❁ उल्टा नाम ❁

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

उलटा नाम जपत जगजाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥
जानि आदि कवि नाम प्रतापू । भयउ शुद्ध करि उलटा जापू ॥
तुलसी रघुवर नाम के, रीझ भजे के खीझ । उलटे सुलटे जामिहैं, पडे खेत में बीज ॥

शब्द सामान्य का मूल अनहत ध्वनि 'रं'कार है। जब शान्त रात्रि में कोई ध्यान से सुनता है तो उसे 'रं' बीज रूप ध्वनि सुनायी पड़ती है। इसी प्रकार जब हम अपना कर्ण कुहर अंगुलियों से अथवा योगियों द्वारा ब्यवहृत तुलसी काष्ठ के टुकडों से बन्द कर देते हैं तो एक अब्यक्त गूञ्ज (ध्वनि) सुनाई पडती है, जो ध्यान से सुनने पर 'रं'कार रूप में स्पष्ट सुन

पड़ती है। योगी लोग इसी अनहतनाद को जिसके विषय में कबीरदास ने कहा हैं–"अनहत बाजे ढोल रे, तुम्हे राम मिलेंगे।' तथा 'रंकार में रमता योगी श्रीगुरु रामानन्दने भाखा। पंच मात्रा।।' असंख्य ब्रह्माण्डो का उद्भव, लय औ पालन रंकार से ही होता है–"ब्रह्माण्डानामनन्तानामुद्भवः लयपालनम। रंकाराद् भवेत्याहो कान्त तवैव का कथा।। शिव संहिता।।" रटे रंकार मत राम रघुनाथ उपारकी।। सिद्धान्त पटल।।'

अभियुक्त वचन–"रणति ब्रह्मरन्धान्ते रं नादः परिकीर्तितः।।" तथा पाणिनि के धातु पाठ रण शब्दे रणति इति रण=रं भी वही सिद्ध करता है।

योगी लोग सर्वदा अजपा के द्वारा स्वतः राम का निरन्तर जप करते रहते हैं–

"रकारेण बहिर्याति मकारेण विशेत्पुनः। रामरामेत्यमुं मन्त्रं योगी जपति सर्वदा।"

परन्तु यह तो हुआ राम का सुल्टा जप। उल्टा जप से तो उल्टाफल की प्राप्ति होगी तब वाल्मीकि उलटा जप करने से ब्रह्म समान कैसे हो गये?

इसका उत्तर यह है कि राम शब्द को उलटा (वर्णविपर्यय) करने से प्रणव (ॐकार) की उत्पत्ति हो जाती है—

मकारं व्यञ्जनं विन्दुर्हेतुः प्रणवमाययोः। अर्धमात्रादुकारस्यात् अकारान्नादरूपिणः।।
रकारगुरुराकार तथा वर्णविपर्ययः। मकारं व्यञ्जनंचैव प्रणवं चाभिधीयते।।"

ॐकार को ब्रह्म कहा गया है–'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म–गीता' और 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' वाक्य के अनुसार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म के समान ही हो जाता है। अतः उलटा राम जपने से वाल्मीकि का ब्रह्म समान हो जाना उपपन्न है।

पुनः वर्णविपर्यय (उलटा) करने से सभी शब्दों का अर्थ नहीं बदलता है। उदाहरण के लिये 'तप ऐश्वर्ये। तपधातोरतकारयोः क्रम व्यत्यासेन पत ऐश्वर्ये वा इति पाठान्तरम्। तप का उल्टा पत को भी वही अर्थ है। अर्थ में व्यतिक्रम नहीं हुआ। 'लज अपवारणे। जल इत्येके यहाँ भी लज का उलटा जल होने से अर्थ में व्यतिक्रम नहीं है।' नभ आदित्यो भवति–नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एव स्यात् विपरीतः, न न भातीति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता। निण "यहाँ भी 'भन' का उलटा नभ होने से अर्थ में परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार राम शब्द के वर्ण विपर्यय से अर्थ में परिवर्तन नहीं समझना चाहिए। व्याकरण शास्त्र ने भी आगम वर्ण विपर्यय को माना है–'भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।' अतः राम नाम में वर्ण विपर्यय से अर्थ विपर्यय नहीं होता है।

राम शब्द के दो और तीन अक्षर कहे गये हैं 'आखर मधुर मनोहर दोउ। वरण विलोचन जन प्रिय सोउ।।, इस चौपाई में स्पष्ट रूप से दो अक्षर कहे गये हैं तथा इनमें प्रयुक्त 'मधुर एवं 'मनोहर' शब्दों में 'र' एवं 'म' वर्णो का विपर्यय (उलटा) प्रयोग कर उक्त तत्त्व का संकेत भी कर दिया है। पुनः 'वन्दौं नाम राम रघुवर को। हेतु कृशानु भानु हिमकर को।।' चौपाई में अस्पष्ट (परोक्ष) रूप से 'र' 'आ' 'म' इन तीन अक्षरों का प्रतिपादन है। दो अक्षर–'राम' को उल्टा जपने पर 'मरामरामरा' की श्रृङ्खलात्मक उच्चारण में 'रामरामराम' का उच्चारण स्वतः होने लगता है। अतः उलटा सीधो में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'र' 'आ' 'म' इन तीन अक्षरों को उलट पुलट करने में (१) म+आ+र=मार शब्द बनता है। कुमार क्रीडायाम (चुरा०) एवं मृ क्रीडायम् (भ्वा०) धातुओं का एक ही अर्थ है। पुनः मार का अर्थ स्मर है–'मारोस्मरेमृत्यों

मेण और राम को भी 'स्मरमूर्तिमान्' कहा गया है। कुमार (युवराजस्तु कुमारो अ. को. १।७।१२) एवं सुकुमार (सुकुमारं तु कोमलं मृदुलं मृदु–अ. को. ३।१।७८) पद राम में पूर्ण घटित हैं। वेद में भी राम को कुमार कहा गया हैं–"युवो कुमारः प्रत्येत्याहवन्–ऋ. १।१५५।६ मार शब्द का मूल धातु 'मृ' मृदल एवं मृदु में स्थित है। अतः वर्ण विपर्यय (उलटा) करने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पडता है। (२) र+आ+म=राम करने पर 'रमा सीता–सीता राहरानाम एवं राम मध्ये स्थिता सीता–मिथिला महात्म्य' के अनुसार अर्थ (राम) में कोई अन्तर नहीं पडता है। (३) म+र+आ=मरा के सम्बन्ध में ऊपर लिखो जा चुका है। अतः उलटा नाम जपने पर भी वाल्मीकि का ब्रह्म समान हो जाना उपपन्न है।

राम शब्द के अंशांश से ही बीज, ॐकार तथा सोऽहं–ये तीनों सिद्ध होते हैं–"अंशांशैः रामनाम्नश्चत्रयः सिद्धाः भवन्ति हि। बीजमोकारसोऽहं च सूत्र मुक्तमिति श्रुतिः ।।" बीज को उलटा सुल्टा में कोई अन्तर नहीं पडता–"उलटे सुलटे जामिहें, पडे खेत में बीज ।।" ॐकार तो राम पद के वर्ण विपर्यय से बना ही है। अतः ॐकार को उलटने पर राम ही बनेगा और कोई अन्तर नहीं पडेगा। 'सोऽहं' पद का वर्णबिपर्यय 'अहंसः' पद तो हंस (अहंस इति तादात्म्य भाविनः संसारमयं हन्तीति हंसः–शङ्कराचार्यः) का अर्थ तो 'हन्ति गच्छति सर्वशरीरेष्विति हंसः' और 'रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च इति रामः' ही है। अतः उलटा जपने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

राम शब्द 'र+अ+म' में र विसर्ग (ः) रूप अ अकाररूप (ऽ) तथा म अनुस्वार (ं)रूप होने से तीनों ही बीज रूप अथवा निराकार रूप है। अतः इनको उलटने पर इनके बीज रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता और उलटे सुलटे जामिहें पडे खेत में बीज के समान इनके परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

पुनः रकार 'तत्' का वाचक है, अकार 'त्वं' का वाचक है और मकार 'असि' का वाचक है–"रकारस्त्वत्पदोज्ञेयस्त्वंपदोऽकार उच्यते। मकारोऽसि पदं ज्ञेयं तत्त्वमसि सुवोचने ।।" 'तत्त्वमसि' 'त्वमसितत्' 'असित्वंतत्' आदि रूपों में उलटने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पडता। अतः राम को उलट कर जपने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार 'चिद् वाचको रकारस्याद् सद् वाच्याकार उच्यते। मकारानन्दकं वाच्यं सच्चिदानन्दमव्ययम् ।।' में सच्चिदानन्द, चित्सदानन्द, आनन्दसत् चित्' आदि रूपों में उलटने से कोई अन्तर नहीं पडता और राम शब्द को उलटने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पडता है।

अधिक क्या राम शब्द का वर्ण (अक्षर) सभी शब्दों का छत्र और मुकुट है–"एकु छत्रु एकु मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ। तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजित दोउ ।। मानस।। "निर्वर्गं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटः छत्रं सर्वेषां मकारो रेफ व्यञ्जनम् ।। महारामायण ५२।१०१।।" पहले मुकुट कहें और पीछे छत्र तथा पहले छत्र कहें और पीछे मुकुट– इन दोनों ही स्थितियों में अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। अतः राम नाम को उलट कर जपने में भी अर्थ में अन्तर नहीं पडता है।

इस प्रकार 'उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना ।। का कथन सर्वथा उपपन्न है। "ॐतत्सद्यत्परं ब्रह्मरामचन्द्रश्चिदात्मकः। रा. उ. ता. ।।"

❀

❁ पुरुषोत्तम ❁

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

पुरुषार्थ की अभिप्सावाले ईश्वर को जिन रूपों में उपासना करते हैं, उनका निरूपण करते हुये श्रीउदयनाचार्यजी ने न्यायकुसुमाञ्जलि की स्वकृत टीका में कहा है कि पुरुषार्थ की प्राप्ति के हेतु वैष्णव लोग पुरुषोत्तम की उपासना करते हैं–"इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदि विद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपिनिर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, लोक व्यवहार सिद्ध इति चार्वाकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते।"

अतः वैष्णव पुरुषोत्तम के उपासक प्रसिद्ध हैं। पुरुषोत्तम शब्द में दो पद हैं पुरुष+उत्तम पुरुष का शब्दकोष में अर्थ है–"क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः–अ.को. १।४।२९।" तथा उत्तम का अर्थ–"क्लीवे प्रधानं प्रमुख प्रवेकानुत्तमोत्तमाः। मुख्यवर्यवरेण्याश्च प्रवर्होऽनवराध्र्यवत्॥ पराध्र्यग्रप्राग्रहरप्राग्र्याग्रीयमग्रियम्। श्रेयाञ्श्रेष्ठः पुष्कलः स्यात्सत्तमश्चातिशोभने॥ अ.को. ३।१।५७-५८

एवं पुरुषोत्तम का अर्थ—"श्री पतिः पुरुषोत्तमः—अ. को. १।४।२९।" सर्व प्रसिद्ध होने के कारण–"विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वालोपो वक्तव्यः (वा० ३२९९). देवदत्तः–दत्तः–देवः' इति वत् ईश्वरः (पुरुषोत्तम) को केवल पुरुष नाम से भी शास्त्रों में निरूपण है और विष्णु सहस्रनाम में इनको दो स्थानों में "पुरुष" नाम से ही प्रतिपादित किया गया है (श्लोक १५ श्लोक ५७) जिसके भाष्यों में शङ्कराचार्यजी ने लिखा है—

"पुरं शरीरं तस्मिन्शेते पुरुषः। 'नवद्वारं पुरं पुण्य–मेतैर्भावैः समन्वितम्। व्याप्यशेते महात्मा यस्तस्मात् पुरुष उच्यते।' इति महाभारते। (शान्ति० २१०।३७)। यद्वा अस्तेर्व्यत्स्ताक्षरयोगाद् आसीत् पुरा पूर्वमेवेति विग्रहं कृत्वा व्युत्पादितः पुरुषः। 'पूर्वमेवाहमिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्' इति श्रुतेः। अथवा पुरुषु भूरिषु उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति, पुरुणि फलानि सनोति ददादि वा, पुरुणि भुवनानि संहारसमये स्यति अन्तं करोति वा, पूर्णत्वात् पूरणाद्वा सदनाद्वा पुरुषः 'पूरणात्सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः' इति पञ्चमवेदे (उद्योग० ७०।११) प्रधानं प्रकृतिर्माया, पुरुषोजीवस्तयोरीश्वरः प्रधानपुरुषेश्वरः, सर्वस्मात्पुरासदनात्सर्वपापस्यसादनाद्वापुरुषः 'स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः (बृ. उ. १।४।१) इति श्रुतेः, पुरि शयनाद्वा पुरुषः, 'सवा अयं पुरुषः सर्वासुपूर्षु पुरिशयः' (बृ. उ. २।५।१८) इति श्रुतेः।" यास्क ने भी पुरुष शब्द के सम्बन्ध में यही लिखा है–"पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा 'पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य–'यस्मात्परं नपारमस्ति किंचिद्' यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्। वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥' इत्यपि निगमो भवति॥"

मुण्डकोपनिषद् में उक्त पुरुष से ही सभी की उत्पत्ति बतलायी गयी है—

"दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्योभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान्तरेः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥
तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ॥
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥
तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥
प्राणापानौ व्रीहि यवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥
सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त ॥
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ॥
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ॥
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ मुण्डक २।१।२-१०॥"

चारो वेदों के प्रसिद्ध पुरुष सूक्तों में भी ईश्वर को पुरुष नाम से ही निरूपण किया गया है तथा उनसे ही जगत् की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है । अतएव वैष्णवों के लिये पुरुषोत्तम की उपासना कहना वैदिक एवं महत्त्वपूर्ण है । श्रीमद्भगवद्गीता में इस पुरुषोत्तम तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है—

"द्वाविमौ पुरुषौलोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजतिमां सर्वभावेन भारत ॥१५।१६-१९

गीता में इस निरूपण को गुह्यतम शास्त्र की संज्ञा दी गयी है तथा इस अध्याय को पुरुषोत्तमयोग नामक अध्याय कहा गया है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ । एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥१५।२०॥"
"इति पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥"

इस प्रकार ईश्वर को पुरुषोत्तम जानना ही उसको सर्वरूप से जानना है तथा उसका सर्वभाव से भजन (भक्ति) है । यही पुरुषोत्तम योग है एवं यही गुह्यतम शास्त्र है । अतः श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में ईश्वर को पुरुष एवं पुरुषोत्तम नाम से ध्येय एवं प्राप्य कहा गया है—

ध्येय=प्रसन्नलावण्यसुभ्रन्मुखाम्बुजं, जगच्छरण्यं पुरुषोत्तमं परम् ।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं, स्मरामि रामं सह सीतया सदा ॥ वै. म. भा.

प्राप्य=श्रीमान् दिव्यगुणाब्धिरौपनिषदो हेतुः शरण्यः प्रभुर्देवेशो जगतामनादिनिधनो ब्रह्मादिदेवार्चितः।
तारार्कानलचन्द्रमोबहुमहः सौदामिनीभासकोऽजय्यो वीरसपत्नशस्त्रनिचयैर्जेता च तेषां मुहुः ॥

नित्यो ब्रह्म विधायकश्च पुरुषो वेदप्रदो ब्रह्मणे नित्यानां शरणं तपः प्रभृतिभिः सद्योगिनां दुर्लभः । एकश्चेतनचेतनो भृतजगद्धेयः स्वतन्त्रो वशी, स प्राप्योऽस्ति मुमुक्षुभिः सुगुरुभिः सत्सङ्गिभिस्तत्परैः।

वै. म. भा. ९।२-३

इस सम्प्रदाय के इष्ट का नाम मर्यादापुरुषोत्तमश्रीराम है । राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं । उन्होंने निर्मर्यादपुरुष की निन्दा की है—

"निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचार समन्वितः । मानं न लभते सत्सु भिन्न चारित्र दर्शनः ॥बा.रा.२।१०९।३

अपर महाभारत वचन में पुरुष शब्द के लक्षण का निरूपण किया गया है-"नवद्वारं पुरं पुण्यमैतैर्भावैः समन्वितम् । व्याप्यशेते महात्मायस्तस्मात् पुरुष उच्यते ।" वह पूर्ण रूप से श्रीराम के पुर (साकेत) एवं श्रीराम में ही घटित होता है—

"ऊर्ध्वोनुसृष्टास्तिर्यङ्नुसृष्टाः सर्वादिशः पुरुष अवभवाँ । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्रह्माश्च चक्षुः प्राण प्रजां ददुः ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
अष्टचक्रानवद्वार देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रिपतिष्ठिते । तस्मिन् यद् यक्षमात्मान्वत् तद् वै ब्रह्मविदो बिदुः ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् । पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥

अथर्व० १०।२।२८-२३॥"

"पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वैब्रह्मविदो विदुः ॥
अकामोधीरो अमृतः स्वयंभूरसेनतृप्ती न कुतश्चननोनः ।

तमेवविद्वान् न विभायमृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अथर्व० १०।८।४६-४४॥"

अतः श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव सम्प्राय में पुरुषोत्तम (राम) की उपासना प्रसिद्ध है ।

इसकी प्राप्ति का उपाय उपनिषद् में इस प्रकार है—

"तपः श्रद्धेयेह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यपर्यांचरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषोह्यव्ययात्मा ॥
परीक्ष्यलोकान्कर्मचिमान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रिणं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेदसत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम् ॥मु० १।१।११-१३॥"

पुरुष की उपासना का फल कहा गया है—

"स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्तेशुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥मु० ३।२।१॥"
"यथानद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नात्मरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥मु० ३।२।८॥"

अतः गीता में कहा है—

"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताःसुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
न तद्भासयतेसूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्तेतद्धाम परमं मम ॥ गी० १५।४-६।'

श्रीमद्भगवद्गीता के ८।१, १०।१५ एवं ११।३ में भगवान् को पुरुषोत्तम, ११।८ में सनातन पुरुष, ११।३८ में पुराणपुरुष कहा गया है एवं ८।१० में दिव्य परम पुरुष १०।१२ में दिव्य शाश्वत पुरुष, ८।२२ परः पुरुष कहा गया है। यह सब उनका साधारण पुरुष (जीव) से भेद निरूपण के लिये हैं जिसको निरूपण गीता में किया गया है—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्यसदसद्योनिजन्मसु ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तोदेहेस्मिन्पुरुषः परः ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथावर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते १३।१९-२३

पुरुष (जीव एवं ईश्वर) के पारस्परिक भेद का निरूपण वेद तथा उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनिशया शोचतिमुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्तमीश-मस्यमहिमानमिति वीतशोकः ॥ ऋ०.१।१६४।२०-२१ मु०३।१।१-२।

इस प्रकार पुरुष (जीव) को परम पुरुषार्थ सिद्धि के लिये परमपुरुष पुरुषोत्तम (राम) को जानना एवं उनकी उपासना करनी चाहिए। ईश्वर को पुरुषोत्तम जानने से बढ़कर उनको जानने एवं भजने का कोई अन्य साधन नहीं कहा गया है—

"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। ससर्वविद्भजतिमां सर्वभावेन भारत गी०१५।१९।"

अतः उदयनाचार्यजी का उपरोक्त कथन "पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः" सही एवं भगवद्वचन तथा श्रीवैष्णव मताब्जभास्करोक्त ज.गु. श्रीरामानन्दचार्यजी के उपदेश के अनुकूल है तथा वेद प्रतिपादित है।







❀श्रीरामानन्द दर्शन का व्यवहारिक स्वरूप❀

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

दर्शन पद अनेकार्थक हैं–'दर्शनं नयन स्वप्न बुद्धि धर्मोपलब्धिषु, शास्त्रदर्पणयोश्च–मे.८८।७३' अतः अनेक सिद्धान्तवादी अपने अपने मन्तव्यों को दर्शन कहते हैं। आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है। जब कि न अस्ति का दर्शन क्या होगा ? प्रकृत निबन्ध में दर्शन शब्द का अर्थ शास्त्र ग्रहण किया जाता है।

श्रीरामानन्द दर्शन वस्तुवाद को मानने वाला यथार्थवाद या सत्यवाद है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सभी पदार्थों की सत्ता वास्तविक है, सत्य है, निर्भ्रान्त है, भ्रम या प्रतिभास या मानसिक संवेदन या शून्य या स्वप्न नहीं।

बौद्धदर्शन के क्षणिक विज्ञानवाद जगत् के पदार्थों को मानसिक संवेदन मात्र मानता है और शून्यवाद बाह्य अन्तर कुछ भी नहीं है, शून्य है, ऐसा मानता है।

शाङ्कर दर्शन मायावाद जो कुछ देखते सुनते हैं सब माया है, भ्रम है, स्वप्न है, प्रतिबिम्ब है, प्रतिभास है, असत्य है, अयथार्थ है–ऐसा मानता है।

अतः सिद्धान्ततः बौद्ध और शाङ्कर के यहाँ व्यवहार [प्रयोग] का कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि व्यवहार के लिये आधार चाहिए। उनके यहाँ यथार्थ में कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सब भ्रम है, मिथ्या है। अतः यदि उनको कोई व्यवहार भी कहा जाय तो वह उन्हीं के मत से मिथ्या व्यवहार है।

इस प्रकार श्रीरामानन्द दर्शन का व्यवहारिक स्वरूप सत्य है, वास्तविक है, यथार्थ है, अभ्रान्त है, जब कि उपरोक्त दर्शनों का व्यवहारिक स्वरूप उन्हीं के मतों से असत्य है, अवास्तविक है, अयथार्थ है, भ्रान्त है।

शङ्कराचार्य ब्रह्म को तो मानते हैं, परन्तु कहते हैं कि मैं ही ब्रह्म हूँ, और ब्रह्म को निर्गुन निराकार निर्लेप निरञ्जन मानते हैं। इस प्रकार उनका ब्रह्म कोरा शाब्दिक या शब्द मात्र है। ऐसे निर्गुण निराकार निरञ्जन वस्तु का व्यवहार प्रयोग में कोई स्थान नहीं है। निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, अनाम का क्या व्यवहार होगा ? केवल मौन हो जाना या निष्क्रियता ही होगी ? निर्गुण और अनाम कहने से अहं ब्रह्मास्मि का कथन भी नहीं बनेगा। क्योंकि 'ब्रह्म' पद भी तो नाम ही है और बृंहनाद्ब्रह्म उसका गुण भी है। अतः वह सगुण और सनाम हो जायेगा। पुनः 'मैं ब्रह्म हूँ' का कथन न केवल उनके मायावादी दर्शन के अनुसार भ्रान्त है अपितु यथार्थता की कसौटी पर भी भ्रान्त तथा हास्यास्पद है, अव्यवहारिक है। इसमें मात्र अहंकार के कुछ भी नहीं है। परन्तु श्रीरामानन्द दर्शन अपने को ब्रह्म कहने का मिथ्याऽहंकार वा मिथ्या प्रलाप नहीं करता। यह अपने को सर्वदा ब्रह्म का परतन्त्र और ब्रह्म का शरीर ['भोग सामग्री= आत्मनो भोगायतनं शरीरम्–वा, भा.' अथवा 'प्रयोग सामग्री वा व्यवहार सामग्री=चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्–न्या. सू. १।१।११।] मानते हैं प्रकृत प्रसंगमें "यच्चेतनस्य यद् द्रव्यं स्वशक्ये नियमेन हि।

नियाम्यं चापृथक्सिद्धं शरीरं तस्य तन्मतम् ॥ श्रौतप्रमेयचन्द्रिका में जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्यजी तथा आचार्य सार्वभौम जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी "लोकेऽपि शरीर पदेनाधेयत्वादय एव गृह्यन्ते इति तान्येव शरीरपदवोध्यानि" आनन्दभाष्य १।२।२। का प्रसंग विशेषरूप से ध्यान में रखना चाहिये पुनः यह ब्रह्मको नित्य सगुण साकार मानता है। अतः यह विशुद्ध व्यवहारिक दर्शन है और वास्तविक व्यवहारिक दर्शन है।

मायावादी भ्रमवादी और शून्यवादी दर्शनों में जगत् में किसी अन्य के साथ सत्य व्यवहार बनता ही नहीं है जो भी व्यवहार और व्यापार होगा वह मिथ्या ही होगा। पुनः मायावादी निराकार निर्गुण ब्रह्मवादी के दर्शन में ब्रह्म के साथ भी कोई व्यवहार नहीं बनता। प्रज्ञा चक्षु सूरदासजी ने स्पष्ट कहा है–"मन वाणी के अगम अगोचर निराधार मन चकित धावे।" और सभी विवादों से हटकर श्रीविन्दुजी ने कहा है–'होगा वह निराकार निर्गुण निर्लेप निरंजन भी होगा। हमको दिखलायी पडता है, सौवार हमारी आंखों में।" अतः सगुण साकार ब्रह्म ही व्यवहारिक हो सकता है, निर्गुण तो चिन्तन का भी विषय नहीं बन सकता, निराकार केवल शब्द का विषय बन सकता है व्यवहार का नहीं और अनाम तो स्मरण का भी विषय नहीं बन सकता व्यवहार वा चिन्तन को को कहे ? 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाक्यपदीय ॥' नैयायिक निर्विकल्प ज्ञान तो मानते हैं। परन्तु वह निर्विकल्पज्ञान सगुण साकार वस्तु का ही निराकार को नहीं–'प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानं जायते, तदेव निर्विकल्पम्–सि०मु०।" अतः निराकार, निर्गुण, अनाम की तो न सत्ता ही है और न व्यवहार। श्रीरामानन्ददर्शन सगुण साकार सनाम वादी होने से विशुद्ध व्यवहारिक दर्शन है। निर्गुन निराकार वादी दर्शन केवल 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः [श्रवण-मनन-निदिध्यासन] का उपदेश देते हैं, द्रष्टव्यः का नहीं क्योंकि ब्रह्म उनके यहाँ दृष्टि [दर्शन] का विषय नहीं है। परन्तु श्रीरामानन्ददर्शन 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इति ॥ बृ. उ. २।५॥" के अनुसार द्रष्टव्यः का भी अपितु मुख्य और इष्ट वस्तु द्रष्टव्य ही है श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः तो द्रष्टव्यः का साधन है। अतः श्रीरामानन्द दर्शन ब्रह्म का सगुण साकार रूप के दर्शन और ध्यान का बडा महत्त्व है। किं ध्यानम् ? प्रश्न से श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी ने "विचकपद्मदलायतवीक्षणं (३।२) आदि अनेक श्लोकों में श्रीसीतारामजी के रूप दर्शन का निरूपण किया है। इस दर्शन में ब्रह्म के पर, विभव, अर्चावतार आदि सभी रूपों में प्रत्यक्ष दर्शन की मान्यता है। अतः यह परमार्थतः व्यवहारिक दर्शन है।

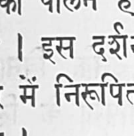
निर्गुण निराकारवादी शाङ्करदर्शन शिखासूत्रका त्याग कर कर्म का त्याग कर देता और अव्यवहारिक बन जाता है। परन्तु श्रीरामानन्द दर्शन शिखा सूत्र का त्याग नहीं करता और निरग्नि नहीं बन जाता। वह 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि–शु.य. वेद के अनुसार आजन्म कर्म का आग्रही है। यह वात दूसरी हैं कि यहाँ कर्मफल का त्याग और केवल भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म का ही आग्रह है। यह दर्शन मीमांसा के "आम्नायस्य क्रियार्थत्वानर्थक्यमतदर्थानाम्–१।२।१।' 'तद्भूतार्थानां क्रियार्थेन समाम्नाय-१।१।२५।' के अनुसार वेद को क्रियार्थक मानकर वेदोपदेश के अनुसार भजन, पूजन, तीर्थ, व्रत, दान, यज्ञ, तप आदि कर्म करनेवाला सर्वथा व्यवहारिक दर्शन है कोरा शाब्दिक नहीं। यह दर्शन दर्शन के–"श्रोतव्यः श्रुति वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते

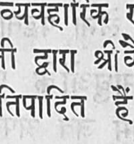
दर्शन हेतवः ।।" सभी हेतुओं का व्यवहार कर ब्रह्म का साक्षात् दर्शन और प्राप्ति कराने वाला सर्वथा व्यवहारिक दर्शन है ।

यह व्यवहारिक स्वरूप अन्य सभी शुद्धाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि वादी वैष्णवदर्शनों का भी है। परन्तु ये अन्य वैष्णव दर्शन अपने को ब्रह्मका शरीर [आत्मनो भोगाःयतनं शरीरम्–वा. भा.] नहीं मानते । अतः ये ब्रह्म के तादात्म्य एवं नियाम्य मात्र हो सकते हैं भोग वस्तु नहीं । भोग वस्तु तो अपना शरीर ही होता है । अन्य वस्तु तो उपभोग होता है और स्वशरीर के मोध्यम से ही भोग बनता है ।

अब इस दर्शन का व्यवहारिक स्वरूप क्या है? तो इस दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का ब्रह्म का पूजन अर्चन, कैङ्कर्यादि समस्त व्यवहार जीवों में श्रेष्ठ के साथ श्रद्धा, आदर, पूज्य व्यवहार, समान के साथ सखा, मित्रता का व्यवहार लघु के सा वात्सल्य कृपा का व्यवहार, निर्वलों के साथ दया सहानुभूति का व्यवहार, एवं अपकारियों के साथ उपकार करनेका व्यवहार तथा जो व्यवहार अपने लिये चाहते हैं वही व्यवहार दूसरों के प्रति करना हो इस दर्शन का व्यवहारिक स्वरूप है। इस दर्शन का व्यवहारिक रूप साधु बनना है, ब्रह्म बनना नहीं "उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः । अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते· निर्गुणेष्वपि सत्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः। न हि संहरते ज्योत्स्ना चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ।। 'अहं ब्रह्मास्मि' का अहं व्यवहार स्वरूप इसका नही है प्रत्युत ईश्वरस्याप्यभिमान द्वेषित्वात् दैन्य प्रियत्वाच्च ।। ना. भ. सू. २७।।' के अनुसार यह निरभिमान के व्यवहार का प्रतिपादक है। अतः 'सियाराममय सब जगजानी । करौं प्रणाम जोरि युग पाणी ।।' कह कर सभों के आगे झुकने एवं साष्टाङ्ग दण्डवत् करने का उपदेश देता है । संक्षेप में इस दर्शन का व्यवहारिक रूप सदाचार का पालन है । ईश्वर की उपासना और सदाचार पालन इसके व्यवहारिक रथ के दो चक्के हैं । इस दर्शन का व्यवहारिक स्वरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी द्वारा श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में निरूपित हैं तथा अन्य आचार्यो द्वारा शताधिकग्रन्थों में प्रतिपादित हैं जो वहीं द्रष्टव्य है ।

यह हुआ संक्षेप में श्रीरामानन्द दर्शन के व्यवहारिक स्वरूप का दिग्दर्शन। व्यवहार शब्द का अर्थ विवाद भी होता है–"विवादो व्यवहारः स्यात्–अ.को. १।१।९।" इस अर्थमें श्रीरामानन्द दर्शन का व्यवहारिक स्वरूपका अर्थ होगा श्रीरामानन्द दर्शन का वैवादिक स्वरूप ।' तव इसका तात्पर्य होगा इस दर्शन के अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के साथ विरोध [परस्पर विरुद्ध कथन] स्वरूप । तब इसका विषय बनेगा विवर्तवाद [शंकर] अविकृत परिणामवाद [वल्लभ] निमित्त कारणवाद [मध्वाचार्य] आदि के साथ इसदर्शन के 'सद्वारक परिणामवाद' का विवाद [व्यवहार] आदि । तव इसके पूर्ण ज्ञान के लिये श्रीरामानन्द दर्शन के प्रस्थानत्रयानन्दभाष्य तथा जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यजी योगीन्द्रकृतभाष्यप्रकाशादि समस्त वेदान्त ग्रन्थों को देखना चाहिए। क्योंकि उसी में अन्यदर्शनों से भेद का प्रतिपादन है।





कि कारण को हम शास्त्र और गुरु उपदेश से जान सकते हैं। और कार्य वर्ग को प्रमाणों या चर्म चक्षुओं से देख सकते हैं। अतः संसार का कारण जो ब्रह्म है, वह अव्यक्त जड प्रकृति, अव्यक्त चेतन एवं ईश्वर इन तीनों की समष्टि है। यही सूक्ष्म ब्रह्म कार्य रूप से स्थूल जगत् बन जाता है। तात्त्विक दृष्टि से कार्य एवं कारण में कोई अन्तर नहीं है। संसार ब्रह्म से ओत-प्रोत है, ब्रह्म में सब है। सब में ब्रह्म है। यह सब होनेपर भी वह ब्रह्म एक ही है। क्योंकि श्रुति का वचन है-"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इसका यह तात्पर्य नहीं कि जगत है ही नहीं। क्योंकि अर्थ क्रिया कारिता प्रत्यक्ष दिखाई देती है, और फिर वेदों में भी ईश्वर-जीव जगत् का अस्तित्व स्पष्ट सुनाई देता है।

ब्रह्म ज्ञान के लिए भक्ति का आश्रय लेना चाहिए। भक्ति में भी प्रपत्ति और शरणागति ही मुख्य हैं। प्रपत्ति में कर्ताकी विशेषता होती है, और शरणागति में शरण्य की जिसकी शरण ली जाती है। यथा—

"मुख्यः शरण्यः शरणागतौ च स्यात्कर्तृवैशिष्ट्यमयी प्रपत्तिः।"

प्रपत्ति कलिकाल में कठिन है, इसमें पकड़ जीव की होती है, और शरणागति में जीव को कुछ करना नहीं पड़ता, इसमें पकड ईश्वर की होती है। अतः बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर या आत्मकल्याण के लिए मात्र श्रीराघवेन्द्र रामभद्रजी की शरण में जाओ। ऐसे आपके दार्शनिक तत्त्व विश्वमान्य हैं।

यह किसी देश का सौभाग्य होता है, जिसमें ऐसे सम्प्रदाय प्रवर्तक अवतारी पुरुष आते हैं। सबसे अधिक सौभाग्य उस धरती का होता है, जिसमें आचार्य अपनी लीला भूमि बनाते हैं।

अहमदाबाद श्रीकोसलेन्द्रमठ के अधिपति महामहिम श्री स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्यजी महाराज, श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के ३९वें आचार्य महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी श्रीरघुवराचार्य जी वेदान्तकेसरीजी के सौवर्ष पूर्ति प्रसंग में इस स्मृति ग्रन्थ का प्रकाश करने जारहे हैं। यह अत्यन्त हर्ष की बात है। सुयोग्य उत्तराधिकारी ही अपने पूर्वजों की जन्म शताब्दियाँ मनाया करते हैं। हमारा उन युग पुरुष अंशावतार आचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजी के चरणों में शतशः नमन है। मानवता को उनके जीवन दर्शन से सदा प्रेरणा प्राप्त होती रहे ईश्वर से हम यही प्रार्थना करते हैं। श्री स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्यजी महाराज का यह स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य आज के भौतिकवादी युग में नितान्त उपयोगी और सर्वथा स्तुत्य है।

卐 फलाधिकरणव्याख्या 卐

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

जीवों के कर्मों का यथोचित फल देनेवाला कौन है? इस सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन का फलाधिकरण निरूपित किया गया है।

इस अधिकरण में श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, एवं श्रीकण्ठाचार्य प्रभृति भाष्यकारों के मत से केवल चार सूत्र हैं "फलमत उपपत्तेः।

श्रुतत्वाच्च। धर्म जैमिनिरत एव। पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥" परन्तु आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के मतसे इसके पाँचवा सूत्र "स्मर्यते च।" सूत्र भी है। कुछ लोग यहाँ आपत्ति करते हैं कि जब अधिकरण में प्रथम 'श्रुत त्वाच्च॥' सूत्र कहा ही जा चुका है, तब पुनः "स्मर्यते च" सूत्र व्यर्थ है। क्योंकि श्रुति से स्मृति निर्बल होती है और जब श्रुति से ही सिद्धान्तसिद्ध कर दिया गया तब स्मृति से सिद्ध करना हास्यास्पद है। जहाँ सूर्य का ही प्रकाश हो वहाँ दीपक दिखाना व्यर्थ है।

परन्तु यह आपत्ति व्यर्थ है। सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन में अनेकों सूत्रों १।२।६, १।२।२५, २।३।४७, ३।१।१४, ३।१।१९, ४।१।१०, ४।२।१४, ४।३।११ आदि में स्मृति द्वारा सिद्धान्तों को सिद्ध किया गया है। पुनः स्मृति से तात्पर्य यहाँ ऋषि प्रणति स्मृतियों से न होकर श्रीमद्भगवद्गीता से है जो श्रुति (उपनिषदों) का सारतत्त्व है। "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थोवत्ससुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥" अतः श्रुति ही नहीं अपितु "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः श्रिता ॥" के अनुसार साक्षात् परमेश्वर के श्रीमुखसे निर्गत वाणी होंने से श्रुतियों से भी अधिक प्रामाणिक है। तभी वेदान्त दर्शन के प्रस्थानत्रयी में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता का ग्रहण है और वेदान्त के प्रकरण में इसकी महत्ता सर्वाधिक सर्वमान्य है। अतः आनन्दभाष्यकार द्वारा इस "स्मर्यते च" सूत्र को मानना विवेक पूर्ण एवं युक्त है। पुनः इस फलोधिकरण में उक्त 'श्रुतत्वाच्च' सूत्रोक्त उपनिषद (श्रुति) वचन से इस 'स्मर्यते च' सूत्रोक्त श्रीमद्भगवद्गीता (स्मृति) वचन अधिकतर स्पष्ट होने से और भी उपयोगी है। अतः आनन्दभाष्यकार द्वारा इसका ग्रहण योग्य है।

अब उक्त फलाधिकरण के पाचों सूत्रों की व्याव्या की जाती है—

[१] फलमत उपपत्तेः ॥ब्र. सू. ३।२।३७॥

व्याव्याः—'फलनिष्पतौ' के अनुसार साधारणतया फलशब्द का अर्थ क्रिया की निष्पत्ति या सिद्धि होता है। किसी भी क्रिया के तीन परिघटक होते हैं—१. करण (साधकतमं करणम्) २. व्यापार (क्रिया निष्पत्ति अनुकूल प्रयत्न) और ३. फल (क्रिया निष्पत्ति)। 'बाणेन हतो मृगः' में बाण मृगहननक्रियानिष्पत्ति में अत्यन्त उपकारक (प्रकृष्टोपकारक) होने से करण है, हनन क्रिया के लिये निष्पत्ति के लिये प्रयत्न व्यापार है और मृग हत्या रूप कार्य निष्पत्ति फल है। कर्त्ता जो भी क्रिया करता है वह दो प्रकार की होती है ईप्सित क्रिया और अनीप्सित क्रिया। जिस क्रिया को करने में कर्ता की इच्छा रहती है वह ईप्सित क्रिया और जिस क्रिया को कर्त्ता की इच्छा नहीं रहने पर भी अपने व्यापार द्वारा आनुषङ्गित रूप से अनायास प्राप्त कर लेता है, उसे अनीप्सित कहते हैं। अनीप्सित दो प्रकार के होते हैं उपेक्ष्य और द्वेष्य। ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' में कर्ता को ग्राम जाना क्रिया ही अभिलषित (ईप्सित) है, तृण का स्पर्श करना नहीं। अतः यहाँ तृण स्पर्श क्रिया उपेक्ष्य कर्म है। 'ओदनं भुञ्जानो विषं भुंक्ते' में कर्त्ता को भात-खाना ही अभीष्ट है विष भक्षण नहीं। यह विष भक्षण अनभिलषित (अनिष्ट) होते हुये भी भोजन व्यापार रूप क्रिया में संलग्न (अपृथक्) है। अतः यह द्वेष्य कर्म है। प्रकृत 'फलमत उपपत्तेः' सूत्र में प्रयुक्त फल शब्द केवल क्रिया निष्पत्ति रूप फल का बोधक नहीं अपितु निष्पत्ति के लक्ष्य (प्रयोजन) रूप फल का बोधक है। कर्त्ता कोई भी कर्म किसी न किसी प्रयोजन से

कर्ता है। किसी कार्य को करने की इच्छा हीं प्रवृत्ति का कारण है। तर्क प्रकाश में लिखा है 'प्रथमतः फल ज्ञानम्। ततः फलेच्छा। ततः इष्ट साधनता ज्ञानम्' ततः उपायेच्छा' ततः प्रवृत्तिरूत्पद्यते।' अतः क्रिया का मुख्य फल प्रयोजन (अभीष्ट) की प्राप्ति है और वह एक शब्द में फल है सुख की प्राप्ति (अनुकूल वेदनीयं सुखम्)। चरम प्रयोजन आंत्यन्तिक सुख स्वर्ग (स्वर्ग कामो यजेत) अथवा साकेत प्राप्ति या मोक्ष है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कर्म फलों को तीन प्रकार का कहा है "अनिष्टमिष्टमिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् गी. १८।१२" जीवों के कर्मों के सम्बन्ध में भी कहा गया है "कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥यो.सू. ४।७। अब जीवों के उक्त त्रिविध कर्मों का फल (पुरुसकार या परिणाम) किसके द्वारा मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त सूत्र का 'अतः' पद आया है। अतः कारण बोधक आनुमानिक अव्यय है और यह निगमन का निरूपक है, इसके पूर्व सूत्र में ब्रह्म को सर्वगत (सर्वव्यापक. सर्वशक्तिमान्) कहा जा चुका है 'अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः॥ ब्र.सू. ३।२।३६॥' उसी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को कारण का व्यपदेश करते हुये निगमन (पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम्) बोधक अतः पद से ज्ञापित किया गया है। जीवोंके शुक्ल कृष्ण मिश्र कर्मों का क्रमशः इष्ट अनिष्ट मिश्र फल देने वा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही है। ऐसा क्यों? कोई दूसरा कर्म फल प्रदाता क्यों नहीं है? तो इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है "उपपत्तेः" क्योंकि उपपत्ति (युक्ति) से ब्रह्म ही कर्म फल प्रदाता सिद्ध होता है। अब वह उपपत्ति क्या है? तो कर्मफल प्रदान के लिये दो वातों की अत्यन्त आवश्यकता है–प्रथम कर्मफल प्रदाता सर्वज्ञ हो, सर्वज्ञ का तात्पर्य कर्मों के केवल बाह्य ज्ञान से नहीं अपितु कर्ता के अन्तःकरण कार्यकरने का उद्देश्यों के ज्ञान से भी है। सर्वज्ञ केवल ब्रह्म ही है, वही विश्व के सभी जीवों के सभी कार्यों को पूर्णरूपेण बाह्याभ्यन्तर रूप से भलिभांति जानता है। अतः वहीं कर्मों पर यथोचित विचार पूर्वक कर्म फल निर्धारण करने में योग्य है। द्वितीय कर्मफल प्रदाता सर्वशक्तिमान् हो। सर्वशक्तिमान् ही सभों के कर्मों को सतत स्मरण रखने एवं दण्ड या पुरस्कार देने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्म ही अनादिकाल से जीवों के सभी कर्मों को यथार्थतः जानने वाला, उसको सतत स्मरण रखने वाला उसका यथोचित निर्णण करने वाला तथा उसको फल प्रदान करने में समर्थ है। क्योंकि वही नित्यज्ञानवान् (बुद्धि इच्छा प्रयत्ना नित्याऽनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्या जीवस्य। त. सं.। समवायसम्बन्धेन नित्य ज्ञानवान् ईश्वरः। पद कृत्य) और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। अतः सभी जीवों के सभी कर्मों को पूर्णरूपेण जाननेवाला वही ब्रह्म ही सभी जीवों के सभी कर्मों पर पूर्णरूपेण विचार कर उसका यथोचित फल निर्धारण एवं फल प्रदान में समर्थ है। यदि कहा जाय कि प्रकृति फल प्रदान करती है। तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रकृति ज्ञानरहित (जड) होने से कर्मों के जानने एवं उसके फल की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं है। यदि कहें कि जीवात्मा ही कर्मों का फल देती है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ और अनित्यज्ञानवान् होने से वह यथोचित कर्मफलों का निर्धारण एवं अल्पशक्तिमान् होने से कर्मफल प्रदान करने में समर्थ नहीं है। पुनः जीव स्वयं ही कर्म कर्ता कर्मफल भोक्ता और कर्मफल प्रदाता नहीं हो सकता। मनुष्य चाहता है सुख भोगना परन्तु उसे भोगना पड़ता है दुःख यदि कहे कि एक जीव दूसरे का कर्म फल प्रदाता होगा। तो वह भी पूर्वोक्त अल्पज्ञादि कारणों से नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि देवता कर्म फल प्रदाता है, तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि देवता भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं हैं, अतः वे भी कर्मफलप्रदाता नहीं हो सकते। ज. गु. श्रीतुलसीदासजी ने

इनके सम्बन्ध में कहा है–"देवदनुज मुनि नाग मनुज सब, माया विवश वेचारे।" मीमांसकों के देवता तो सम्प्रदानकारक सूचक पद (शब्द) मात्र हैं। इसके अतिरिक्त इनका कुछ भी स्थितित्व नहीं है। देवता मन्त्रात्मक होते हैं और देवता की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोडकर अलग नहीं होती जिनके द्वारा उनके लिये होम का विधान है। दूसरे शब्दों में हवनादि के लिये सम्प्रदान कारक सूचक शब्द मात्र देवता हैं। वे (देवता) केवल हविष त्याग के कर्म पदमात्र अर्थात् शब्द मात्र हैं। 'विग्रहवती देवता भवति न वा भवति?' के प्रश्न पर मीमांसकों का मत है 'न भवति। अतः मीमांसकों के देवता कर्मफल प्रदाता हो ही नहीं सकते। वेदान्तानुसार अग्नि, वायु आदि देवताओं की अपनी कोई शक्ति नहीं है, वह ब्रह्म की शक्ति से ही शक्तिमान् है (केनोपनिषद् देखें)। अतः वे कर्मफल प्रदाता नहीं हो सकते। उनकी उपासनाओं का फल भी ईश्वर द्वारा ही दिया जाता है और वह फल अनित्य होता है—

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तम्तस्याराधनमीहते। लभते च तकः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥गी०७।२१·२३।

इस प्रकार उपपत्तियों से ब्रह्म ही जीवों का कर्म फल प्रदाता सिद्ध है।

[२] श्रुतत्वाच्च ॥ब्र. सू. ३।२।३८॥

युक्तियों से तो जीवों का कर्मफल प्रदाता ब्रह्म ही सिद्ध होता ही है। पुनः श्रुतियों (प्रमाणं परमं श्रुतिः–मनु २।१३) से भी ब्रह्म ही जीवोंका कर्मफल प्रदाता सिद्ध होता है। शुक्ल यजुर्वेद में ब्रह्म को कहा गया है–"तू विश्वपोषक है तथा तू ही निरीक्षक एक है। तू कर रहा नियमन तथा तू ही प्रवर्तन कर रहा। पालन सभी का हो रहा तुझसे पिता की भांति है। निज पोषणादिक शक्तियाँ तू खोल कर मुझ को दिखा। फिर से दिखा एकत्र करके तू इन्हें। अब देखता हूँ रूप तेरा तेजमय कल्याण तम। वह जो परात्पर पुरुष है। वह हूँ हमी—

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्यव्यूहरश्मीन् समूह। तेजोयत्तेरूपं कल्याणतमं तत्तो पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥शु. य. ४०।१६॥"

अतः वेद (श्रुति) में ब्रह्म को ही विश्व का पोषणकर्ता, द्रष्टा (नीरीक्षक) और नियमन कर्ता कहा गया है। "भूतंभव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ मनु. ॥"

[३] धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ब्र.सू. ३।२।३९॥

परन्तु उन्ही कारणों (युक्ति एवं श्रुति) से ही मीमांसा सूत्र कार आचार्य जैमिनी ब्रह्म को कर्मफल प्रदाता न मानकर धर्म को ही कर्मफल प्रदाता मानते हैं–ऐसा इस सूत्र से यहाँ पूर्व पक्ष उपस्थित किया गया है। जैमिनिः=आचार्य अतएव इसीलिए (इन्हीं उक्त कारणों से) धर्मम्=धर्म को फलदाता कहते हैं। इसकी उपपत्ति यह है कि फल तो कर्म ही का होता है। बिना कर्म का फल नहीं होता अर्थात् कर्म के अभाव में फलका भी अभाव होता है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से कर्म ही फल का कारण है–कर्मसत्त्वे फल सत्ता। कर्माभावे फलाभावः। तव फल का कारण वा फल प्रदाता भी कर्म ही है। ओदनं पचति, ओदनं भुंक्ते। भात पकाने का कर्म करता है और भात रूप फल स्वतः मिल जाता है। इसमें किसी फलप्रदाता की आवश्यकता नहीं होती। श्रुति में भी कहा है–'स्वर्गकामो यजेत।' यज्ञ करने से स्वतः स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। अतः कर्म (धर्म) ही उपपत्ति (युक्ति) एवं श्रुति से फलप्रदाता है

अध्यात्म रामायण में भी ऐसा ही लिखा है—

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता. परोददातीति कुबुद्धि रेषः ।
अहं करोमीतिवृथाभिमानं, स्वकर्मसूत्रे प्रथितोहिलोकः ॥ अ. रा. २।६।६

जैनाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं—

"स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥"

परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। अतः आगे का सूत्र है—

[४] पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ॥ब्र.सू. ३।२।४०।

तु=परन्तु जैमिनि का कथन ठीक नहीं है। बादरायण=ब्रह्म सूत्र कर्ता आचार्य। पूर्वम्= पूर्वोक्त ब्रह्म को ही कर्मफल प्रदाता मानते हैं। हेतुव्यपदेशात्=क्योंकि हेतु (कारण) के विर्वचन (व्यपदेश) से ब्रह्म का ही कर्मफ़ल प्रदाता होना सिद्ध होता है।

वह हेतुओं का निर्वचन इस प्रकार है—कर्म क्षणिक अर्थात् नाशवान् है। वह चिरकाल में नष्ट हुआ कर्म स्वर्गादि फ़ल का प्रदाता नहीं हो सकता—

"चिरध्वस्तं फ़लायालं न कर्मातिशयं विना ।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥न्या. कु.१।९॥"

पुनः कर्म जन्य अदृष्ट (धर्म) भी जड होने से वह स्वयं फलप्रदान नहीं कर सकता। अतः इसके नियमन के लिये चेतन अधिष्ठान (ब्रह्म) की आवश्यकता है। इस प्रकार न तो क्षणिक परिवर्तनशील, जड कर्म स्वतः फलप्रदाता हो सकता है और न तज्जन्य जड अदृष्ट (धर्म) ही। अपितु चेतन अधिष्ठाता ब्रह्म ही कर्म फलप्रदाता हो सकता है।

न्याय सूत्र कार गौतम भी इसी प्रकार इस प्रकरण में हेतु का निर्वचन करते हुये लिखते हैं

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफ़ल्यदर्शनात् ॥न्या. कु. ४।१।१९॥"

भाष्यकार वात्स्यायन इसके भाष्य में लिखते हैं कि संसार में सुख की इच्छा करने वाले पुरुष अपने इच्छित सुखफ़लको अवश्य प्राप्त करते हैं-ऐसा नहीं होता। इससे अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि पुरुषों के लिये कर्मो के फ़लों की प्राप्ति होना दूसरे के अधीन है। वह जिसके अधीन है वह ईश्वर है—

"पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफला राधनमिति यदधीनं स ईश्वरः तस्मादीश्वरः कारणमिति ॥"

यदि कर्म के ही अधीन फ़ल रहता तो कर्म करने के साथ ही कर्मफल भी मिलजाता किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। लोग कर्म करते हैं और उसका फल तत्काल नहीं मिलता है। इससे प्रमाणित होता है कि कर्मफल की प्राप्ति पराधीन है। जिसके अधीन है। वही ईश्वर है।

"शुभंवाऽप्यशुभं कर्म फलकालमपेक्षते । शरद्येव फ़लात्याशु शालिर्नैसुतमौक्वचित् ॥"

पुनः गौतम इस पर पूर्वपक्ष उपस्थित करते है-

न पुरुषकर्माभावे फ़लानिष्पत्तेः ॥न्या. सू. ४।१।२०॥

इसके भाष्य में वात्स्यायन लिखते हैं—

"ईश्वराधीना चेत्फ़लनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फ़लं निष्पत्तिः ॥वा. भा.॥"

अर्थात्–पुरुष के कर्म को नहीं करने पर कर्मों का फल नहीं मिलने के कारण यह कथन ठीक नहीं है कि ईश्वर कर्मों का फल प्रदाता है। यदि कर्मों के फल की सिद्धि ईश्वर के अधीन हो तो पुरुष के प्रयत्न के बिना ही अर्थात् कर्म किये बिना ही फल की प्राप्ति होने लगेगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः ईश्वर कर्मफल प्रदाता नहीं है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुये कहा गया है—

"तत्कारितत्वादहेतुः ॥न्या. सू. ४।१।२१॥"

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति, फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयति। यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्मफलं भवतीति। तस्मादीश्वरकारितत्वादहेतुः पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति ॥वा.भा.

अर्थात्—जीवों के प्रयास (प्रयत्न) को ईश्वर अनुग्रह करता है। प्राणियों का जैसा कर्म होता है वैसा ही फल ईश्वर देते हैं। अतः फल की सिद्धि पुरुषकार (कर्म करने वाले) और ईश्वर (फलप्रदान) करनेवाले दोनों पर है।

इससे उपरोक्त जैनाचार्य की आपत्ति का भी विनास हो जाता है। इन्हीं हेतुओं के व्यपदेश (निर्वचन) के कारण बादरायण पूर्वसूत्रोक्त ब्रह्म को ही कर्मफल प्रदाता मानते हैं।

यहाँ स्मरणीय है कि इस सूत्रोक्त "हेतुव्यपदेशात्" से सिद्ध है कि श्रुति से भी हेतु को प्रमाण में प्रमुख मानते हैं क्योंकि हेतु (कारण या साधन) से ही साध्य की सिद्धि होती है एवं तर्क (अविज्ञात तत्त्वेऽर्थेकारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः–न्या. सू. १।१।४०) के पश्चात् ही निर्णय (विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः न्या. सू. १।१।४१) होता है–"साधनोपलम्भजन्मा तत्त्वावबोधोनिर्णयः न्या. मं.।" तथा निर्णय को ही प्रमाणों का फल कहा गया है–"निर्णयो निश्चयः स च प्रमाण फलम्–त. सं. दी.' 'निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणानां फलम् ॥त.भा. 'निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम् ॥ वात्स्यायन'' "तत्त्वे विप्रतिपन्नानां वाक्यानामितरेतरम्। विरोध परिहारोत्र निर्णयस्तत्त्वदर्शनम् ॥" पुनः श्रुतियों का भी समन्वय (विरोध परिहार और एक वाक्यता) तथा अर्थानुसन्धान और अर्थावधारण भी तर्क ही के द्वारा होता है–"तर्को वै ऋषिरुक्तः–यास्क।" "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेदनेतरः ॥मनु० १२।१०६॥" अतः बादरायण अपना मत "हेतुव्यवदेशात्" से ही निर्धारित करते हैं। पुनः बादरायण इसको स्मृति प्रमाण से भी पुष्ट करते हैं—

[५] "स्मर्यते च ॥ब्र.सू. ३।२।४१॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं—

"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु ॥गी. १६।१९॥"

अतः परमेश्वर हीं कर्मफल प्रदाता हैं। यह बात स्मृति से भी सिद्ध है। श्रुति से प्रमाणित करने के बाद पुनः स्मृति से प्रमाणित करने का कारण यह है कि श्रुति के अर्थ का समुचित ज्ञापन स्मृति से ही होता है और कहा गया है–"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं सगुपबृंहयेत्। विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥" "वेदः स्मृतिः सदाचरः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥" अतः स्मृति के द्वारा श्रुति को ही पुष्ट किया गया है। क्योंकि श्रुति परम प्रमाण है–"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायों न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥"

❀

इस प्रकार गीतार्थचन्द्रिका–श्रीरघुवरीटीका गीता के ऊपर अद्‌भुत प्रकाश डालती है। विविध-शास्त्रों के ज्ञाता पण्डितप्रकाण्ड महामहोपाध्याय श्रीरघुवराचार्यजी का योगदान निश्चय ही श्लाघनीय है। इस टीका से राम और कृष्ण का ऐक्यभाव भी स्पष्ट हो जाता है।

अपनी व्याख्या के प्रसंग में याज्ञवल्क्य स्मृति, वृहद् ब्रह्म संहिता, भागवत. श्वेताश्वतरोपनिषद् मुण्डकोपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् महाभारत. बराहपुराण, पाणिनिसूत्र, जैमिनिसूत्र. धर्मशास्त्र नीतिशास्त्र, ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, विष्णुपुराण. वृहद्‌ब्रह्म संहिता, वायुपुराण, यजुर्वेद, मनुस्मृति, श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमाला, आनन्दभाष्य सांख्यकारिका, काठकसंहिता, ईशावास्योपनिषद्, पञ्चरात्र, वाल्मीकि रामायण, वेदान्तचिन्तामणि, वाल्मीकिसंहिता तैत्तिरीयोपनिषद् महोपनिषद् तथैव योगसूत्र मानवधर्म शास्त्र वसिष्ठस्मृति पद्मपुराण एवं पूर्वाचर्यों तथा अन्यान्य शास्त्रीयग्रन्थों के उद्धरण के साथ जगद्‌गुरु श्रीरानान्दाचार्य रघुवराचार्यजी ने विषय की पुष्टि की है। वस्तुतः आनन्दभाष्य के ऊपर गीतार्थचन्द्रिका अपूर्व व्याख्या ग्रन्थ है।

ग्रन्थ के अन्त में श्रीरघुवराचार्यजी ने लिखा है—

यो भक्तिवर्त्मसुखदं परिपातुकामस्त्रय्यन्तसारमवनौ प्रथयाञ्चकार।
गीतात्मकं निजजनोद्धरणैकबीजं, तस्मै नमो भगवते मधुसूदनाय॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महामहोपाध्याय ब्रह्मवित्स्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीमद्‌भगवद्‌गीतार्थचन्द्रिका टीकाया· मष्टादशोऽध्यायः।

इस प्रकार गीतार्थचन्द्रिका के प्रकाशन से गीता के गभीरविषयों पर प्रकाश पडा है अतः जगद्‌गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्री रघुवराचार्यजी इस अथक प्रयास के कारण स्तुत्य एवं वन्दनीय हैं।

यतिश्रेष्ठाय विज्ञाय श्रीमद्रघुवराय ते। समर्प्यतेऽत्र वाक्पुष्पसुमारमणशर्मणा॥

卐

ज्ञान तत्त्व विचार

(भाग १)

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

चार्वाक दर्शन

"चैतन्य विशिष्ट देहैव आत्मा"

चैतन्य हमारे शरीर (भूत चतुष्टय=पृथिवी–अप–तेज·वायु) का ही गुण विशेष है। चैतन्य युक्त शरीर का ही नाम आत्मा है। आत्मा और शरीर में तादाम्य है। मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं कालो हूँ, मैं काना हूँ आदि व्यवहार और अनुभूति से शरीर ही चेतन एवं ज्ञान है। चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों से होती है–'किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत्।" शरीर में चैतन्य गुण का अविर्भाव होता है। आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ नहीं हैं। चैतन्य आकस्मिक गुण है।

जैनदर्शन

चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है–"चेतन लक्षणोजीवः ।" चैतन्य आकस्मिक या आगत गुण नहीं प्रत्युत स्वरूप और स्वाभाविक लक्षण है । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्य को और सूर्य को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा वा चैतन्य अपने को एवं अन्य विषय वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है अतः 'ज्ञानं स्वपरभासी' कहा गया है । जिस प्रकार सूर्य किसी आवरण के कारण प्रकाश नहीं दे सकता, उसी प्रकार आत्मा भी बन्धन में पड़ जाने के कारण अनन्त ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता। जब बन्धन नाश हो जाता है, तब आत्मा अनन्त ज्ञानमय हो जाता है। अनन्त ज्ञान की शक्ति जीव में है किन्तु बाधाओं के रहने से जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता ।

ज्ञान के पाँच भेद हैं– १ मति, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनः पर्यय, ५ केवल (मति श्रुतावधिमनः पर्यय केवलानि ज्ञानम् तत्त्वार्थ सूत्रम् १।९) ।

इन्द्रिय और मन की सहायता से प्राप्त ज्ञान मतिज्ञान है । मतिज्ञान के अन्तर्गत प्रत्यक्ष अनुमान, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा आते हैं ।

मतिज्ञान के आधार पर अन्य पदार्थों का ज्ञान श्रुतज्ञान है. सर्वज्ञ तीर्थङ्करों के उपदेश सर्वश्रेष्ठ श्रुत ज्ञान हैं ।

सीमित वस्तुओं का वह ज्ञान जिसके द्वारा व्यक्ति अत्यन्त दूरस्थ सूक्ष्म तथा अस्पष्ट द्रव्यों को जान लेता है 'अवधिज्ञान' है। मनुष्य जब अपने कर्मों को अंशतः नष्ट कर लेता है तब इस प्रकार का ज्ञान होता है ।

'मनःपर्यय' उस ज्ञान को कहते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के भूत और वर्तमान विचारों को जान जाता है।

'केवल ज्ञान' केवल मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है । इसके द्वारा भूत वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान होता हैं ।

इनमें अन्तिम (केवल ज्ञान) को छोड़कर शेष प्रथम चारों (मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय) में आंशिक सत्यता ही रहती है ।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील (अनित्य) तत्त्वों का संग्रह (एकत्र स्थिति) है, जिसे पञ्च स्कन्ध कहते हैं—

प्रथम स्कन्ध है–'रूप' । अनुष्य के आकार, रंग आदि इसके अन्तर्गत आते हैं ।

द्वितीय स्कन्ध है–'वेदना' । सुख, दुःख, विषाद के बोध इसके अन्तर्गत आते हैं ।

तृतीय स्कन्ध है–'संज्ञा' । नानाविध ज्ञान इसके अन्तर्गत आते हैं ।

चतुर्थस्कन्ध है–'संस्कार' । पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही संस्कार कहते हैं ।

पञ्चम स्कन्ध है–'विज्ञान' । चेतना को विज्ञान कहते हैं । गौतम बुद्ध दार्शनिक प्रश्न पूछे जाने पर मौन हो जाते थे । अतः इनके अनुयायियों में दो मत हो गये–एक मत का नाम

प्रतीतिवाद है। जिसके अनुसार हमें केवल उन्हीं विषयों का निश्चित ज्ञान मिलता है जो अनुभव गोचर तथा दृष्टफल हो। अप्रत्यक्ष विषय का ज्ञान असंभव है। दूसरे मत का नाम अतीन्द्रियवाद या रहस्यवाद है। जिसके अनुसार अलौकिक विषयों की अनुभूति केवल प्रज्ञाशील व्यक्तियों को ही होती है। इनका ज्ञान तार्किक युक्ति द्वारा नहीं हो सकता। प्रज्ञा ही चरम तत्त्व है

शून्यवाद

ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान परस्पर आश्रित है। एक का अस्तित्व शेष दोनों पर निर्भर होता है। अतः यदि एक असत्य हो तो शेष दोनों भी असत्य सिद्ध होंगे। जब हम किसी रस्सी को साँप समझ लेते हैं, तो वहाँ साँप का अस्तित्व विल्कुल असत्य है। ज्ञातवस्तु (सर्प) यदि असत्य है तो ज्ञाता और ज्ञान भी असत्य है। इस दृष्टान्त के द्वारा यह प्रतीत होता है कि स्वप्न जगत् की तरह ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय सभी असत्य हैं। इस प्रकार आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। संसार विल्कुल शून्य है।

प्रत्यक्ष जगत के परे पारमार्थिक सत्ता अवश्य है। लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह मानसिक है या बाह्य। साधारण लौकिक विचारों द्वारा अवर्णनीय होने के कारण उसे शून्य कहते हैं। बुद्धि के द्वारा वस्तुओं के स्वभाव का पता नहीं लग सकता। जो सत्य है, वह निरपेक्ष है। वह अपने अस्तित्व के लिये किसी वस्तु पर निर्भर नहीं हो सकता। किन्तु साधारणतः हम जितने वस्तुओं को जानते हैं वे किसी न किसी वस्तु पर अवश्य निर्भर रहते हैं। अतः ये सत्य नहीं समझे जा सकते लेकिन इन्हें असत्य भी नहीं माना जा सकता है। ये यदि आकाश कुसुम की तरह बिल्कुल असत्य होती तो इनका अस्तित्व प्रत्यक्ष नहीं होता। लेकिन वैसी बात नहीं है। आकाश कुसुम की तरह ये विल्कुल अप्रत्यक्ष नहीं है। तो क्या हम कह सकते हैं कि ये सत्य और असत्य दोनों हैं? या यह कह सकते हैं कि ये न तो सत्य है और न असत्य? ऐसा कहना तो विल्कुल विरुद्ध होगा। वस्तुओं का स्वरूप इन चार कोटियों से रहित होने के कारण शून्य कहा जाता है। सत्य दो प्रकार के हैं–१ संवृति सत्य और २ पारमार्थिक सत्य। इसे शङ्कराचार्य के व्यवहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता का रूप माना जा सकता है।

योगाचार (विज्ञानवाद)

विज्ञानवाद के अनुसार चित्त ही एक मात्र सत्ता है। हमारा शरीर तथा अन्यान्य पदार्थ जो मन के वहिर्गत मालूम पडते हैं, वे सभी हमारे मन के अन्तर्गत हैं। बाह्यवस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। वे सभी मानसिक प्रत्यय मात्र हैं। जिस प्रकार स्वप्न या मतिभ्रम की अवस्था में हम वस्तुओं को बाह्य समझते हैं। यद्यपि वे मन के अन्तर्गत ही रहती हैं, उसी प्रकार साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो पदार्थ बाह्य प्रतीत होते हैं, वे भी विज्ञानमात्र हैं। चूंकि किसी वस्तु में तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान में भेद नहीं किया जा सकता है। इसलिये बाह्यवस्तु का अस्तित्व विल्कुल असिद्ध है। नीले रंग में तथा नीलेरंग के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। यथार्थतः दोनों एक ही हैं। उन्हें दो समझना भ्रम है। दृष्टि विकार के कारण कोई व्यक्ति चन्द्रमा को दो देख सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि चन्द्रमा दो हैं। किसी वस्तु का ज्ञान ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः यह किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व भी है।

सौतान्त्रिक (बाह्यानुमेयवाद)

सौतान्त्रिक चित्त तथा बाह्यजगत दोनों को ही मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को नहीं माना जाय तो बाह्य वस्तुओं की प्रतीति कैसे होती है–इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। जिसने बाह्य वस्तु को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा है वह यह नहीं कह सकता कि भ्रमवश अपनी मानसिक अवस्था ही बाह्य वस्तु के सदृश प्रतीत होती है। उसके लिये 'बाह्यवस्तु के सदृश' यह कहना उसी तरह अर्थहीन हैं, जिस प्रकार वन्ध्या पुत्र। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य वस्तु की कोई सत्ता ही नहीं है। अतः बाह्यत्व का न तो कोई ज्ञान हो सकता है और न उसके साथ किसी की तुलना की जा सकती है। यह सत्य है कि वस्तु के वर्तमान रहने पर ही उसका प्रत्यक्ष होता है। किन्तु वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन है, इसलिये अभिन्न है–यह युक्ति सत्य नहीं है। हमें जब घट का प्रत्यक्ष होता है तब घट हमारे बाहर है और ज्ञान हमारे अन्दर है–इसका स्पष्ट अनुभव होता है। अतः वस्तु को ज्ञान से भिन्न मानना चाहिए। यदि घट में और मुझ में कोई भेद नहीं होता तो मैं कहता कि 'मैं ही घट हूँ।' यदि बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं होता तो 'घटज्ञान' तथा 'पटज्ञान' में भी कोई भेद नहीं होता। घट और पट यदि केवल ज्ञान हैं तो दोनों एक हैं। लेकिन 'घटज्ञान' और 'पटज्ञान' को हम एक नहीं मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि दोनों में वस्तु सम्बन्धी भेद अवश्य है।

हम अपनी ही इच्छानुसार जहाँ कहीं किसी वस्तु को नहीं देख सकते हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि ज्ञान केवल हमारे मन पर निर्भर नहीं है। ज्ञान के चार प्रकार के कारण या प्रत्यय होते हैं–१ आलम्बन, २ समनन्तर, ३ अधिपति और ४ सहकारी प्रत्यय—

१. घटादि बाह्य विषय का ज्ञान का आवलम्बन कारण है। क्योंकि ज्ञानका आकार उसीसे उत्पन्न होता है।

२. ज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था में ज्ञान में चेतना आती है। इसलिये इसका नाम समनन्तर प्रत्यय है।

३. विषय और पूर्ववर्ती ज्ञान के रहने पर भी विना इन्द्रिय के बाह्य ज्ञान नहीं हो सकता है। किसी विषय का ज्ञान रूप–रस–गन्ध–स्पर्शादि किसी प्रकार का ज्ञान होगा वह इन्द्रिय पर निर्भर है। अतः इन्द्रियों का ज्ञान का अधिपति प्रत्यक्ष या नियामक कारण कहा जाता है।

४. इनके अतिरिक्त आलोक, आवश्यक दूरत्व, आकार आदि सहायक कारणों का होना भी ज्ञान होने के लिये आवश्यक है। इन्हें सहकारी कारण कहते हैं।

इन चार प्रकार के कारणों के संयोग से ही किसी वस्तु का ज्ञान होना सम्भव है। अतः ज्ञान का आकार ज्ञात वस्तुओं के अनुसार ही होता है। हम प्रत्यक्ष वस्तुओं के जो आकार देखते हैं वे ज्ञान के आकार हैं और वे मन ही में हैं। बाह्य वस्तु का ज्ञान वस्तु जनित मानसिक आकारों से अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है। अतः इसे बाह्यानुमेयवाद कहते हैं।

वैभाषिक (बाह्यप्रत्यक्षवाद)

सौतान्त्रिकों के समान वैभाषिक भी चित्त तथा बाह्यवस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं। परन्तु वे कहते हैं कि वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता। यह सत्य है कि हम धूआं देखकर हम आग का अनुमान करते हैं। किन्तु यह इसलिये संभव

होता है कि अतीत में हमने आग और धूआं को एक साथ देखा है। जिसने इन दोनों को साथ साथ कभी नहीं देखा वह धूआं देखकर आग का अनुमान नहीं कर सकता। यदि बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष कभी भी नहीं हुआ रहे तो केवल मानसिक प्रतिरूपों के आधार पर उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसने कभी कोई बाह्यवस्तु नहीं देखा है, वह यह नहीं समझ सकता कि कोई मानसिक अवस्था किसी बाह्य वस्तु का प्रतिरूप है। प्रत्युत वह तो यह समझेगा कि मानसिक अवस्था ही मौलिक और स्वतन्त्र सत्ता है। उसका अस्तित्व किसी बाह्यवस्तु पर निर्भर नहीं है। अतः यातो हमें विज्ञानवाद को स्वीकार करना होगा या यह मानना होगाकि बाह्यवस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान ही सम्भव है।

वैशेषिक दर्शन

ज्ञान या चैतन्य का अधिकरण (आधार) आत्मा है। बुद्धि का अर्थ है ज्ञान–"सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः–त. सं.।" "व्यवहारः शब्द प्रयोगः ज्ञानं बिना शब्दप्रयोगासम्भवाच्छब्द प्रयोगरूपव्यवहारहेतुत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्–न्यो. बो०।" "जानामीत्यनुव्यवसायगम्यं ज्ञानत्वमेव लक्षणम्–त. सं. दी.।" अर्थात् बुद्धि का साधारण धर्म है–'ज्ञानत्व'। जब हम घट पट देखते हैं तब 'अयं पटः' ऐसा ज्ञान 'व्यवसाय' कहलाता है। जब हम यह भी अनुव करते हैं कि हमें घट का ज्ञान प्राप्त हो रहा है। (घटमहं जानामि) तब ऐसे ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। व्यवसायात्मक ज्ञान वहिर्मुख होता है और अनुव्यबसायात्मकज्ञान अन्तर्मुख। व्यवसाय और अनुव्यवसाय की सामान्य जाति है 'ज्ञानत्व'। वह ज्ञानत्व जिसमें हो वही बुद्धि है। प्रशस्तपादाचार्य ने वैशेषिक सूत्र के भाष्य में लिखा है–"बुद्धिरुपलब्धिज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायः" अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय ये सभी पर्याय (एक ही वस्तु के नाम) हैं। ऐसा उन्होने सांख्य मत के खण्डन के उद्देश्य से कहा है। क्योंकि सांख्य मत में इनमें भेद है। "महतत्त्व नाम का अन्तःकरण विशेष जो सत्त्व–रज–तम रूप को प्रथम परिणाम है उसका नाम है 'बुद्धि' उस बुद्धि के विषयाकार प्रतीति या परिणाम 'घट है' का नाम है 'ज्ञान'। दर्पण के समान निर्मल बुद्धि में वर्तमान ज्ञान से चैतन्य शक्ति रूप पुरुष का भेदज्ञान न होने से पुरुष (आत्मा) में ज्ञानाश्रय होने के अभिमान को 'उपलब्धि' कहते हैं।" इस सांख्यमत का खण्डन वैशेषिक भाष्यकार ने इन्हें पर्याय बतलाकर किया है। सप्तपदार्थी में शिवादित्य ने कहा है "आत्माश्रयः प्रकाशो बुद्धिः"। बुद्धि प्रकाश रूप है और वह आत्माश्रित है। इस लक्षण में सूर्य या दीप का प्रकाश नहीं आ सकता। 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्योदिभिः पर्याय शब्दैर्याऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थ प्रकाशो वा बुद्धिः ॥त.भा.॥"

सांख्य दर्शन

पुरुष चेतन है। चैतन्य इसका आगन्तुक गुण नहीं प्रत्युत स्वरूप ही है। पुरुष का चैतन्य प्रकाश महत् के सत्त्वगुण पर पडता है। अतः महत् भी चेतन मालूम पडता है। इसी के साथ चिन्तन का भी प्रादुर्भाव होता है। अतः महत् को बुद्धि भी कहते हैं। वही जगत् की सृष्टिकारिणी बुद्धि है। बुद्धि का रूपान्तर अहंकार में होता है। पुरुष शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धि से भिन्न है। पुरुष वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है, कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह चैतन्य का आधारभूत द्रव्य नहीं प्रत्युत स्वतः चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य इसका गुण नहीं स्वभाव है।' वह केवल द्रष्टा है जो प्रकृति की परिधि से परे औरशुद्ध

चैतन्य स्वरूप है। उसके ज्ञान का प्रकाश सर्वदा बना रहता है। ज्ञान के विषय बदलते रहते हैं, परन्तु आत्मा या चैतन्य का प्रकाश स्थिर रहता है वह नहीं बदलता। सृष्टि के क्रम में सर्व-प्रथम बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है। बुद्धि के विशेष कार्य हैं निश्चय और अवधारण। बुद्धि के द्वारा ही ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों का भेद विदित होता है। बुद्धि के द्वारा ही हम किसी विषय के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। सत्त्वगुण के आधिक्य से बुद्धि का उदय होता है। बुद्धि का स्वभाविक धर्म है स्वतः अपने को तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना। जब बुद्धि में सत्त्व की अधिक वृद्धि होती है, तब उस सात्त्विक बुद्धि के फल होते हैं-धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। जब तमस् का परिणाम बढ़ जाता है, तब उस तामस बुद्धि से अधर्म अज्ञान, आशक्ति और अशक्ति की उत्पत्ति होती है। बुद्धि पुरुष (आत्मा) से भिन्न है। क्योंकि पुरुष समस्त भौतिक द्रव्यों और गुणों से परे है। परन्तु जीवात्माओं के जो ज्ञानादिक व्यापार होते हैं, उनका आधार यही बुद्धि है। इसमें सत्त्व अधिक होने के कारण आत्मा के चैतन्य को प्रतिविम्बितकर उससे स्वयं प्रकाशयुक्त हो जाती है। इन्द्रियों और मन का व्यापार बुद्धि के निमित्त होता है और बुद्धि का व्यापार आत्मा के निमित्त होता है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपना और प्रकृति का भेद समझकर अपने यथार्थ स्वरूप की विवेचना कर सकता है।

योगदर्शन

जीव स्वभावतः चैतन्य स्वरूप है। यह अज्ञान के कारण चित्त के साथ अपना तादात्म्य कल्पित कर लेता है और भ्रमवश अपने को चित्त समझने लगता है। ित्त प्रकृति का प्रथम विकार है। चित्त स्वभावतः जड है, परन्तु आत्मा के निकटतम सम्पर्क में रहने के कारण वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता हैं। निर्मल होने के कारण उस पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे उसमें चैतन्य का अभास आजाता है। चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती है १. प्रमाग (सत्यज्ञान), २. विपर्यय (मिथ्याज्ञान), ३. विकल्प (कल्पना), ४. निद्रा (सुषुप्ति) और ५. स्मृति।

प्रमाण (सत्यज्ञान) तीन प्रकार के होते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) विषयों के सम्बन्ध में भ्रम को कहते हैं। विकल्प का अर्थ है वह शब्द जनितवृत्ति जिसका सम्बन्ध वस्तुस्थिति से न हो। जैसे 'आकाश कुसुम' शब्द से अर्थ बोध होता है, परन्तु इस बोध के अनुरूप कोई वस्तु नहीं है। निद्रा वह चित्तवृति है जिसमें तमोगुण का प्रधान रहता है, जिसके कारण जाग्रत् और स्वप्न अवस्धाओं के अनुभव विलीन हो जाते हैं। इस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में मानसिक क्रिया अथवा चैतन्य का लोप नहीं होता है। निद्राभङ्ग होने पर हम कहते हैं-''मैं खूब सोया', 'ऐसा सोया कि किसी विषय का बोध ही नहीं रहा' इत्यादि। अर्थात् निद्रावस्था की बात हमें स्मरण रहती है, इससे सूचित होता है कि निद्रावस्था का प्रत्यक्ष अनुभव हमें अवश्य ही हुआ होगा, तभी तो वह हमें स्मरण आता है। इससे सिद्ध हैं कि सुषुप्तावस्था में भी मन अपना कार्य करता रहता है। विषय का अभाव ही इस वृत्ति का आवलम्बन है। अतः निद्रा की अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्ति कहते हैं। अतीत अनुभवों की यथावत् मानसिक प्रतीति 'स्मृति' है। इन पाँच वृत्तियों के अन्तर्गत ही सभी वृत्तियाँ आ जाती हैं।

न्यायदर्शन

आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु से सम्बन्ध होता है, तो उसमें चैतन्य का संचार होता है। चैतन्य आत्मा का कोई नित्यगुण नहीं है। यह आगन्तुक गुण है। जब मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा किसी विषय से सम्बद्ध होता है, तभी उस विषय का चैतन्य या ज्ञान आत्मा को होता है। मुक्त होने पर आत्मा इन सम्पर्कों से रहित हो जाता है। ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख दुःख, राग द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण रूप से वर्तमान रहते हैं। ज्ञान के सम्बन्ध में न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन का एक ही मत है। यह भी वैशेषिक के समान ही बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि और प्रत्यय को पर्याय मानता है–"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्–न्या. सू. १।१।१५।" न्यायदर्शन आत्मा के आगन्तुक चैतन्य मानता है, नित्य चैतन्य नहीं। इस प्रकार ऐसा मानने पर आत्मा में जडत्वापत्ति होती हैं। आगन्तुक चैतन्य का आत्मा मन आदि के संयोग से उत्पन्न होने के कारण घट अग्नि संयोगादि से उत्पन्न रक्त (लाल) आदि गुणके समान कादाचित्कत्व होने के कारण यदि इस भय से आत्मा का नित्य चैतन्य स्वीकार करते हैं तो सुप्त मूर्छित ग्रहादि आविष्टों का भी चिदात्माका नित्य चैतन्य स्वरूप तथा चैतन्य भानारूपी पिशाची जागृत होती है। सुप्त मूर्छित ग्रहादि आविष्ट दशा में किसी भी आत्मा को कोई भी चेताने के लिये समर्थ होगा। अपितु सुषुप्तादि रहित जागरित स्वस्थता आदि दशा में ही वे चेतयमान देखने वालों से अनुभव किये जाते हैं। इसलिये कादाचित्क चैतन्य होने के कारण आत्मा का आगन्तुक चैतन्य ही नैयायिकों का पक्ष क्या युक्त नहीं है। जडत्वापत्ति के सम्बन्ध में नैयायिक कहते हैं कि 'आत्मा ज्ञानवान् है और ज्ञान का अत्यन्तोभाव जड होता है। कादाचित्क चैतन्य मानने पर चैतन्य वा ज्ञान का अत्यन्ताभाव नहीं है। अतः जडत्वापत्ति भ्रान्त है।

मीमांसादर्शन

चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण नहीं है। चैतन्य की उत्पत्ति शरीर के साथ आत्मा के संयोग से होती है। विशेषतः जब किसी विषय का ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयोग होता है तब चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मुक्त आत्मा विदेह होता है तथा चेतना विहीन होता है। किन्तु उसमें चैतन्य की शक्ति रहती है। चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं, किन्तु एक औपाधिक गुण है जो अवस्था विशेष में उत्पन्न हो जाता है। सुषुप्ता तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नहीं रहता क्योंकि उसके उत्पादक कारणों (जैसे इन्द्रिय और विषय का संयोगादि) का अभाव रहता या हो जाता है।

भाट्ट मत

आत्मा का ज्ञान कभी कभी होता है, प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान नहीं होता। जब आत्मा पर विचार करते हैं, तब अपनी आत्मा का बोध होता है कि 'मैं हूँ'। इसे 'अहं वित्ति' कहते हैं। इसीका जो विषय है वह आत्मा है। प्रभाकर सम्प्रदाय इस मत को नहीं मानता। उसका कथन है कि 'अहं वित्ति' की धारणा ही अयुक्त है। क्योंकि एक ही आत्मा उसी ज्ञान का ज्ञाता और ज्ञेय (विषय) दोनों नहीं हो सकता। जैसे वही अन्न भोक्ता और भोज्य दोनों एक साथ नहीं हो सकता। कर्ता और कर्म के व्यापारों में परस्पर विरोध होता है। एक ही क्रिया में एक ही साथ एक ही वस्तु कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। परन्तु

प्रत्येक विषय ज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्ता के रूप, विषय विषय के रूप में उद्भासित होता हैं। इसलिये हमें जब कोई भी ज्ञान होता है (जैसे–'यह घडा है') तब हम कहते हैं "मैं घडा देख रहा हूँ' अथवा 'मुझे घडे का ज्ञान हो रहा है।' यदि यहाँ मैं स्वयं ज्ञाता के रूप में प्रतीत नहीं होता तो फिर 'मैंने ही घडा देखा' यह किस आधार पर कायम किया जाता? इसके उत्तर में भाट्ट सम्प्रदाय का कथन है कि प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान उद्भासित होता तो मैं इस घडे को जान रहा हूँ ऐसा बोध सर्वदा वर्तमान रहता। परन्तु प्रत्येक विषय ज्ञान के साथ ऐसा नहीं होता। इससे सूचित होता है कि आत्मज्ञान विषयज्ञान का नित्य सहचर नहीं है। वह कभी उदित होता है और कभी नहीं होता। अतएव वह ज्ञान विषय से भिन्न है। तब रहा कर्ता और कर्म का विरोध। सो यह कोरा शब्द जाल है। यदि दोनों में वास्तविक बिरोध होता तो यह वैदिक विधिवाक्य कि 'आत्मानंविद्धि' (अपने आत्मा को पहचानो) अथवा यह लौकिक प्रत्यय कि 'मैं अपने को जानता हू' बिल्कुल निरर्थक हो जाता। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं होता तो फिर अतीत काल में अपने आत्मा के अस्तित्व को स्मरण करना कैसे सम्भव होतो ? क्योंकि अतीत कालीन आत्मा तो वर्तमान ज्ञान का ज्ञाता है नहीं, यह केवल वर्तमान कालीन आत्मा के स्मृति ज्ञान का विषय हो सकतः है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का विषय हो सकता है।

प्रभाकर मत

ज्ञान को ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? प्रभाकर मीमांसकों का मत है कि प्रत्येक विषय ज्ञान में, जैसे 'मैं यह घडा जानता हूँ' तीन अङ्ग विद्यमान रहते हैं–(१) ज्ञाता अर्थात् जानने वाला(मैं) (२) ज्ञेय जो विषय जाना जाता है (जैसे घडा) और (३) ज्ञान (अर्थात् घडे को जानना)। इन तीनो का ज्ञान एक साथ होता है। इसे 'त्रिपुटी ज्ञान' कहते हैं। जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तव वह ज्ञाता ज्ञेय और अपने, इन तीनों को प्रकट करता है। अतएव ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के प्रकाशक होने के साथ साथ स्वयं प्रकाश भी होता है, परन्तु इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का कथन है कि ज्ञान स्वभावतः अपना विषय स्वयं नहीं हो सकता, जैसे अंगुली का अग्रभाग अपने को ही नहीं छू सकता तब हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमें अमुक बिपय का ज्ञान हो रहा है? इसके उत्तर में भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि हमें कोई भी विषय या तो ज्ञात (प्रकट) होता है या अज्ञात (अप्रकट) रहता है। यदि वह ज्ञात रहता है तब उस ज्ञातता (प्राकट्य) के आधार पर हम यह अनुमान करते हैं कि हमें उस विषय का ज्ञान था। इस तरह ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। वह परोक्ष रूप से ज्ञातता के आधार पर अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है।

प्रभाकर मतमें–'अयं घटः' यह ज्ञान–१. विषय भूत घट, २. ज्ञान तथा ३. ज्ञानप्रामाण्य इन तीनों का ग्रहण करता है। आत्मा एक अचेतन द्रव्य है जो विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार हो जाता है।

भाट्टमत में–ज्ञान अतीन्द्रिय होने के कारण अनुमेय है, उसी तरह उसका प्रामाण्य भी अनुमेय है। (घटः) इस ज्ञान के बाद घट में ज्ञातता उत्पन्न होती है, ततः 'मया घटो ज्ञातः' इस तरह ज्ञातता को प्रत्यक्ष होता है, अनन्तर व्याप्यस्वरूप ज्ञातता के प्रत्यक्ष होने से ज्ञान का अनुमान होगा। यथा–मैं घटत्व प्रकारक ज्ञानवान् हूँ, क्योंकि घटत्त्व प्रकारक ज्ञाततावान् हूँ। इसी

अनुमान से धर्म-प्रामाण्य तथा धर्मी-ज्ञान दोनों का अनुमान होता है। आत्मा एक ऐसा चेतन पदार्थ है जो अंशतः अज्ञान से ढका रहता है।

मुरारिमिश्र के मत में-'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद 'घट महं जानामि' यह अनुव्यसाय होता है, उसीसे प्रामाण्याग्रह होता है।

वेदान्त दर्शन

अद्वैत वेदान्त में आत्मा को नित्य चेतन माना गया है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। ज्ञान उसका असली धर्म है। यह कोई विशेष विषयक ज्ञान नहीं बल्कि शुद्ध सामान्य चैतन्य है। इस चैतन्य को शुद्ध सत्ता स्वरूप समझना चाहिए, क्योंकि यह सभी प्रकार के ज्ञानों में विद्यमान रहता है। जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्ति-ये तीन अवस्थायें होती हैं। आत्मा का सार भूत चैतन्य इन तीनों में वर्तमान रहता है। प्रथम अवस्था (जाग्रत्) में बाह्य विषयों का ज्ञान रहता है। द्वितीय अवस्था (स्वप्न) में केवल आभ्यन्तरिक विषयों का स्वप्नरूप में ज्ञान होता है। तृतीय अवस्था (सुषुप्ति) में किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता तथापि चैतन्य का लोप नहीं होता। क्योंकि सुषुप्ति से जांगने पर उस सुषुप्तावस्था के आनन्द (मैं खूब आराम से सोया) की स्मृति होती है। इस प्रकार जो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति-इन तीनों अवस्थाओं में स्थायी तत्त्व है वह चैतन्य है। वह किसी खास विषय का ज्ञान नहीं निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है। आत्मा अपने स्वभाविकरूप में शुद्ध चैतन्यरूप है। आत्मा ज्ञान का अधिकरणमात्र नहीं अपितु ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान भी पारमार्थिक (एक रूपेणहि अवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः) व्यवहारिक और प्रातिभासिक-तीन प्रकार का होता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ज्ञान, स्वप्रकाश, चेतन तथा बुद्धि को कहते हैं। आत्मा को ज्ञानाश्रय माना गया है। ज्ञान स्वरूप नहीं। किन्तु आत्मा को अजड (अजडत्वं ज्ञानेन विना स्वयं प्रकाशमानत्वं अजडत्वम्) माना यया है। ज्ञान को द्रव्य तथा गुग दोनों माना गया है। ज्ञान को अर्थ प्रकाशक कहा गया है। ज्ञान को अचित् और अचेतन माना गया है।

द्वैत वेदान्त में बुद्धि दो प्रकार की मानी गयी तत्त्व रूपा एवं ज्ञान रूपा। तत्त्वरूपा बुद्धि द्रव्य है और ज्ञानरूपा गुण।

कोष

"चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः। अ. को. १।४।३१।" चित्तम् चेतः (चेतस्) हृदयम्, स्वान्तम्, हृत् (हृद्) मानसम मनः (मनस्)-ये मन या चित्त के नाम है।

"बुद्धिर्मनीषाधिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः। प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्प्रतिपज्ज्ञप्ति चेतना॥

बुद्धिः, मनीषा, धिषणा, धीः, प्रज्ञा, शेमुषी, मतिः, प्रेक्षा, उपलब्धिः, चित् (चिद्), संवित् (संविद्), प्रतिपद् (प्रतिपत्) ज्ञप्तिः, चेतना-ये बुद्धि के नाम हैं।

"धिर्धारणावती मेधा सङ्कल्पः कर्ममानसम्। अवधानं समाधानं प्रणिधानं तथैव च॥
चित्ताभोगो मनस्कारश्चर्चा सङ्ख्या विचारणा॥ विमर्शो भावना चैव वासना च निगद्यते॥
अध्याहारस्तर्क ऊहो विचिकित्सा तु संशयः। सन्देह द्वापरौ चाथ समौ निर्णय निश्चयौ॥
मिथ्या दृष्टिर्नास्तिकता व्यापादो द्रोह चिन्तनम्। समौ सिद्धान्तराद्धान्तौ भ्रान्तिर्मिथ्यामति भ्रमः॥

६५

संविदागूः प्रतिज्ञानं नियमाश्रव संश्रवाः । अङ्गीकाराभ्युपगमप्रतिश्रव समाधयः ॥
मोक्षेधीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः । मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसामृतम् ॥
मोक्षोऽपवर्गोऽथज्ञानमविद्याऽहम्मतिः स्त्रियाम् । अ. को. १।५।२-७।" इन श्लोकों में बुद्धि के कार्यानुरूप प्रकारों का वर्णन है ।

व्याकरण

चिती संज्ञाने (भ्वा०), चिति स्मृत्याम् (चुरा०), चित संचेतने (चुरा०) । ज्ञा निशामने (भ्वा०) निशामनं चाक्षुष ज्ञानम् इति माधवः, ज्ञापनमात्रम् इत्यन्ये । ज्ञा अवबोधने (क्र्या०)जानाति, ज्ञपमिच्च, अयं ज्ञाने ज्ञापने च वर्तते (चुरा०), मनु अवबोधने (तना०), मन ज्ञाने (दिवा०), कि ज्ञाने (जुहो०) चिकेति बुधिर अवबोधने (भ्वा०) बोधते । उबुन्दिर निशामने, निशामनं ज्ञानम् (भ्वा०), वेणृ गति ज्ञान चिन्तानिशामन वादित्र ग्रहणेषु (भ्वा०) विद विचारणे (रुधा०), विद चेतनाख्याननिवासेषु (चुरा०), विद्लृ लाभे (तुदा०) जीव प्राणधारणे (भ्वा०)।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता में बुद्धि और ज्ञान में अन्तर माना गया है और दोनों का तीन तीन भेद पृथक् पृथक् उपदेश किया है धृति को भी बुद्धि और ज्ञान से पृथक् कहा गया हैं और उनका भी तीन भेद पृथक् कहा गया है—

ज्ञानः—सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धिराजसम् ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्येसक्तमहैतुकम् । अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥१८।२०।२२

बुद्धिः—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सापार्थ सात्त्विकी।
यथाधर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानोति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिःसापार्थतामसी ॥१८।३०।३२

धृतिः—धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रिया। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सत्त्विकी ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥१८।३३।३५

बुद्धि और ज्ञानः—बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा
ज्ञानः—धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शोमलेन च । यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्चते । एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तुपराबुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥३।३८।४२
"बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥४।१०॥ "ज्ञानाग्निदग्धकर्मा ग तमाहुः पण्डितंबुधाः४।१९
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥४।२७ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥ अज्ञश्च श्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्न संशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।। तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४।३९।४२ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।। ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामदित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयतितत्परम् ।। तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः ।
गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५।१५।१७। "मायया पहृतज्ञाना आसुरं भाव माश्रितः ।
ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।१०।३८।। "अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।। अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।१३।७।११ यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमंरविः ।
क्षेप्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूत प्रकृतिं मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।१३।३४

(भाग–२)

श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के वेदान्त के ग्रन्थों में ज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रकार निरूपण है—

[१] श्री वैष्णवधर्मपीयूषम्–

अणुर्ज्ञानाश्रयोजीवः सच्चिदानन्दरूपकः । प्राणतो बुद्धितश्चापि भिन्नो देहात् तथेन्द्रियात् ।।३५।।
'ममज्ञानम्' प्रतीतेश्च ज्ञानेऽपि जीवता न हि ।।३७।। दीपप्रभेव यद् द्रव्यं बिम्बचिच्चाजडं तथा ।
ज्ञानं तद् ब्रह्म जीवानां धर्मभूतं मतं बुधैः ।।६७।। सङ्कोचश्च विकासश्चतद्विकारौ प्रकीर्त्तितौ ।
'न विज्ञातुरि'ति श्रौते वाक्ये तन्नित्यता श्रुता ।।६८।। विभुज्ञानं च बद्धानां त्वाच्छाद्यते हि कर्मणा ।
ब्रह्मणो नित्यमुक्तानां ज्ञानं च सर्वदा विभुः ।।६९।। ज्ञानं स्वतः प्रमाणं हि स्वीकृतं वेदवेदिभिः ।
सर्वं ज्ञानं यथार्थं हि विषये सत्यता यतः ।।७०।।

[२] श्रुतिसिद्धान्तदीपिका—

तत्र ज्ञानस्वरूपोऽणुश्चिदर्थो जीव उच्यते । परागथाजडं नित्यं विभुज्ञानं हि तद्गुणः ।।५।।
संयोगगतिमत्त्वाच्च द्रव्यत्वमुभयोर्मतम् । परेण ज्ञानवेद्योऽपि स्वात्मा स्वेनापि गृह्यते ।।६।।
विकारिता मता ज्ञाने नात्मनि सा हि सम्मता । सङ्कोचश्च विकासश्च विकारौ सम्मतौ मतौ ।।७।।
'अहं जानामि' इत्येषा प्रतीतिः सर्वसम्मता । ज्ञानाश्रयस्ततश्चात्मा ज्ञानं गुणस्तथात्मनः ।।८।।
आत्मतज्ज्ञानयोश्चाथ प्रकाशभूतयोस्तथा । आधाराधेयभावोहि दीपतत्प्रभयोरिव ।।९।।
विषयाणां प्रकाशस्य काले ज्ञानं प्रकाशते । प्रकाशते सदाचात्मा धर्मिभूतः सनातनः ।।१०।।
अनुकूलस्तथा चैकः स्फुरत्यात्मा सदैव हि । ज्ञानं चाप्यनुकूलत्वात् सुखरूपं मतं बुधैः ।।११।।
'अहं सुखं किलास्वाप्समि' त्थंभूतप्रतीतितः । आत्मा सुखस्वरूपोऽत्र स्वस्मै च स्वप्रकाशता ।।१२।।
ज्ञाने नित्यविभूतौ च परस्मै स्वप्रकाशता । स्वान्यनिर्वाहकत्वेन दीपवत् तत्र सागता ।।१३।।

[३] मुमुक्षु सर्वस्वम्—

चिदर्थस्तत्र जीवात्मा ज्ञाता चाणुमतो बुधैः । ज्ञानेन धर्मभूतेन व्याप्तः सोऽखिलवर्ष्मणि ।।१६।।
ज्ञानमर्थप्रकाशस्तद् धर्मो जीवेशधर्मिणोः । प्रभावत्स्वप्रकाशं च विभु नित्यं परागथ ।।४२।।
सङ्कोचश्च विकासश्च जीवज्ञानेहि कर्मणा । सर्वदाचेश्वरंज्ञानं व्यापकं सम्मतं बुधैः ।।४३।।

[४] श्री अनन्ततत्त्वामृतम्—

विद्वद्भिः सम्मतंचात्र ज्ञानमर्थप्रकाशकम् । धर्मधर्मिस्वरूपं च ज्ञानं हि द्विविधं मतम् ।।४०।।

ज्ञानं धर्मिस्वरूपं हि जीवस्तथाऽखिलेश्वरः । ज्ञानं धर्मस्वरूपं हि नित्यं प्रज्ञाऽभिधं विभु ॥४१॥

[५] सिद्धान्तरत्नमाला—

ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो हि ज्ञानत्वेन प्रकीर्त्तितः । धर्मधर्मिविभेदाद्धि ज्ञानं द्विधेति वक्ष्यते ॥२३॥
आत्मधर्मतयाभाति प्रभावत् तत्र चादिमम् । 'सत्यंज्ञानयिति श्रुत्याज्ञानस्य द्रव्यता मता ॥२४॥
'न विज्ञातुरि'ति श्रुत्यां श्रुता ज्ञानस्य नित्यता । ईश्वरे नित्यजीवेषु ज्ञानं नित्यं मतं विभु ॥२५॥
कर्मावृत्तं हि बद्धेषु मुक्तेषु प्राक् तदावृतम् । नष्टोत्पन्नप्रतीतिस्तु सङ्कोचाच्च विकासतः ॥२६॥
स्वापे ज्ञानतिरोधानं तमोविशेषसन्निधेः । ज्ञाने द्रव्यत्वसत्त्वेऽपि प्रभेव गुणता मता ॥२७॥
विषयसत्यताहेतोर्ज्ञाने स्वतः प्रमाणता । स्वान्यनिर्वाहकत्वेन सूर्यवत् स्वप्रकाशता ॥२८॥
जीवोऽणुचेतनो व्याप्तो ज्ञानेनाखिलवर्ष्मणि । झटिति तेन जानाति सर्वदेह सुखादिकम् ॥२९॥

[६] श्रीबोधायनमतादर्शः—

नित्यधामेतरज्ज्ञानमजडद्रव्यमचेतनम् । घटाद्यर्थप्रकाशानामसाधारणकारकम् ॥८४७॥
प्रसृत्यचेन्द्रियद्वारा द्रव्येण युज्यते ततः । गुणक्रिया विशिष्टत्वाज्ज्ञानस्य द्रव्यता मता ॥८४८॥
'अहं जानामि' चेत्येषा प्रतीतिर्जायते ततः । अपृथक् सिद्धधर्मश्च ज्ञानंजीवपरात्मनोः ॥८४९॥
संकोचं च विकासं च तदाप्नोति यथा प्रभा । नष्टोत्पन्नप्रतीतिस्तु जायने तत एव च ॥८५०॥
ज्ञानं संकुचितं बद्धे विभुमुक्तपरेशयोः । ज्ञाने दैवेन संकोचो दैवाभावे विकासिता ॥८५१॥
प्रसृतत्वं च प्रज्ञायाः श्वेताश्वतरसम्मतम् । ज्ञानावृत्तिश्च गीतायामा 'वृतं ज्ञानमि'त्यथ ॥८५२॥
सुख रूपं च नित्यं च कालभिन्नं पराक् तथा । नित्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वरूपस्य निरूपकः ॥८५३॥
सुषुप्तौ तमसाच्छन्नं तद् भवेत्तु तिरोहितम् । संकोचश्च विकासश्च सर्पकुण्डलवत् खलु ॥८५४॥
ज्ञाने स्वतश्च प्रामाण्यमाप्रामाण्यं परेणतु । धारावाहिकविज्ञानमेकमेव हि सम्मतम् ॥८५५॥
उपाधिभेदतो बुद्धिः सुखदुःखादिरूपिणी । ज्ञानावस्था विशेषाश्च भक्त्यादयः प्रकीर्तिताः ॥८५५॥
ज्ञानस्यानन्त्यतश्चैव ह्यानत्यश्रुतिसङ्गतिः । ज्ञानेन सर्वभूतेन भोगश्च सर्ववर्ष्मणि ॥८६४॥
प्रभाया भित्तिसम्बद्धाया यथा दीपधर्मता । ज्ञाने भालादिसम्बद्धेऽप्यात्मसम्बद्धतातथा ॥८६५॥
योगिनां बहुदेहानां ज्ञानेनैव च धारणम् । तत्कारणं तु बोद्धव्यं योगबलं हि देहिनाम् ॥८६६॥
विलक्षणं हि संयोगः ज्ञानप्रसरणं मतम् । सुषुप्तावनपायत्वात् तत्तद् देहधृतिस्ततः ॥८६७॥"

[७] श्रौतप्रमेयचन्द्रिका—

परोगचेतनं द्विधा ज्ञानं च नित्यधाम च । अर्थप्रकाशकं ज्ञानं विभुद्रव्यगुणात्मकम् ॥३।३॥
नित्यं जीवेशयोर्धर्मो भिन्नं तत्प्रतिचेतनम् । अनुकूलतया वेद्यं मतं तस्मात् सुखात्मकम् ३।४
तद् 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' । इति श्रुतिबलान्नित्यं मन्यते हि विचक्षणैः ॥३।५॥
'तथा हेयगुणध्वंसादवबोधदयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जायन्ते नित्या एवात्मनो हि ते' ३।६
सुषुप्त्यादिकसंसिद्धिस्तमोविशेषसन्निधेः । उत्पन्ना चाथ नष्टा च व्यवहारो मतेः खलु ३।७
संकोचाख्य विकासाख्यावस्थाभ्यां सम्भवेदिह । संकोचश्च विकासश्च सर्पकुण्डलवन्मतः ३।८
संकोचोऽस्येन्द्रिय द्वारा बद्ध एव हि कर्मणा । विकासश्चेन्द्रियेणाथ ज्ञानस्य प्रसृतौ मतः ॥३।९
संकोचादि विकारित्वाज्ज्ञानस्य द्रव्यतामता । द्रव्यत्वेऽपि मताज्ञाने प्रभावद्गुणता बुधैः ३।१०
प्रामाण्यं विषयास्तित्वं तज्ज्ञानस्य स्वतोमतम् । अप्रामाण्यं तु धर्मांशे परतो मन्यते किल ३।११॥"

[८] प्रमेयोद्देश भास्करः—

ज्ञानं विम्वजडं द्रव्यं नित्यं विषयिकीर्तितम् । धर्मधर्मिविभेदेन ज्ञानं हि द्विविधं मतम् ॥१४॥
जीवब्रह्मेतिभेदाच्च धर्मिज्ञानं मतं द्विधा । प्रमाऽप्रमाविभेदेन धर्मभूता द्विधा मतिः ॥१५॥

[९] प्रमेय परिशोधिनी—

द्रव्यगुणात्मकं द्रव्यं प्रभावद्विभु यच्च तत् । ज्ञानमानन्दरूपं स्वप्रकाशं नित्यमेव तत् ॥२८॥
प्रसरणादिक्रियावत्वाज्ज्ञानं द्रव्यं प्रभा यथा । सदाऽऽश्रितस्वभावत्वात् गुणो यथा विशेषणम्॥२९॥
नित्यत्वेचापि शेमुष्याः स्वापादिरुपपद्यते । प्रतिबन्धकता यस्मात्तमसश्चास्ति जागरे ॥३०॥
उत्पन्नश्चाथनष्टश्च मम ज्ञानमियं मतिः । सङ्कोचाच्च विकासाच्च ज्ञानस्य जायते नृणाम् ॥३१॥
संकोचं कर्मणाऽऽप्नोति बद्धेषु चेतनेषु तत् ॥३२॥ तत्र वेदान्तिभिः प्रोक्ता बुद्धेर्ज्ञानस्वरूपता॥७७॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नानां तथा च सुख दुःखयोः । ज्ञानावस्थाविशेषत्वाज्ज्ञातेऽन्तर्भाव ईरितः ॥७८॥"

[१०] श्रीरामानन्दसिद्धान्तसार—

ज्ञानमर्थप्रकाशस्तन्नित्यं द्रव्यं तथाऽजडम् । यथा प्रभा तथा ज्ञानं विभुद्रव्यगुणात्मकम् ॥१००॥
अचिच्चेतनधर्मस्तद् बद्धानां तु तिरोहितम् । तन्नष्टादिप्रतीतिस्तु तत्सङ्कोचादि हेतुतः ॥१०१॥
क्षरन्त्यन्तः स्थितंलोके दृतेः पादात् यथोदकम् । निःसृत्येन्द्रियतो ज्ञानमर्थेन युज्यते तथा ॥१०२॥
अहिकुण्डलवज्ज्ञाने सङ्कोचश्च विकासिता । नित्यात्मनित्यधर्मत्वाज्ज्ञानस्य नित्यतामता ॥१०३॥
स्वापादयश्चसिध्यन्ति यत् तमः प्रतिबन्धकम् । स्वीकृता हि बुधैर्ज्ञाने स्वत एव प्रमाणता ॥१०४॥
ज्ञानं विभु पराक्त्वाभ्यां जीवाद् भिन्नं बुधैर्मतम् । विभुत्वेऽपीशतो भिन्नं ज्ञानं पराक्त्वहेतुना ॥१०५॥
कालः प्रकृतिजीवेशा शुद्धसत्त्वं च शेमुषी । इत्युपादानरूपाणि षड्द्रव्याणि मतानि हि ॥१११॥
ज्ञानशून्यमचित् तत्त्वं तस्यभेदचतुष्टयम् । प्रकृतिश्चाथ कालश्च शुद्धसत्त्वं च शेमुषी ॥६१॥
जडाजडविभेदाच्च तस्यभेदद्वयं पुनः । आद्यद्वयं जडं तत्राजडमन्त्यद्वयं मतम् ॥६२॥
जडत्वं परमास्यत्वं तद्भिन्नाऽजडतामता । अजडं च द्विधा बोध्यं प्रत्यग् पराग् विभेदतः ॥६३॥
स्वस्मै स्वभासुरं चाद्यं परस्मै भासुरं परम् । आद्यं जीवेश्वरावन्त्यं शुद्धसत्त्वं च शेमुषी ॥६४॥
जडाहि प्रकृतिर्ज्ञानशून्या च त्रिगुणाश्रयः । प्रलये प्रकृतौज्ञेयाः समाः सत्वादयोगुणाः ॥६५॥
दीपज्योतिरिवज्ञानं जीवस्य व्यापकं मतम् । हृत्स्थो जीवोऽखिलं वेत्ति ततो देह सुखादिकम्॥२८॥

भाग–३

ज्ञान लिङ्ग से ही आत्मा एवं परमात्मा को निर्देश किया गया है–"ज्ञानाधिकरणमात्मा । सद्विविधः जीवात्मा परमात्मा च ॥त० सं.॥" योग दर्शन ने परमात्मा (ईश्वर) को सर्वज्ञता का कारण (मूल) कहा हैं–"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् यो.सू.१।२५। योगदर्शन में ज्ञानसामान्य (ज्ञाना-ज्ञान) के अनुकूल व्यापार का नाम वृत्ति कहा गया है एवं उसके पाँच भेद या नाम बतलाये गये हैं–"प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः–१।६।" इनमे प्रथम प्रमा (यथार्थज्ञान तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः) प्रमाण जन्य ज्ञान रूप है–"प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि–१।७" दूसरा अप्रभा (अयथार्थज्ञान=तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः) अतद्रूप प्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान रूप विपर्यय है– "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्–१।८।" तिसरा–विकल्प (वस्तुशून्य केवल शाब्दिक अलीक मिथ्या ज्ञान) मृषार्थक है–"शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः १।९।" अर्थात् काल्पनिक। चौथा–निन्द्रा (ज्ञाना भाव अथवा स्वप्न 'निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि–अ. को.१।७।३६) "अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा–१।१०।" एवं पाँचवां–स्मृति (अनुभूत विषयस्यासम्प्रमोषः स्मृतिः–१।११।" इस प्रकार यहाँ १ यथार्थ (तद्रूप) ज्ञान, २ अयथार्थ (अतद्रूपज्ञान) ३–काल्पनिक ज्ञान, ४–अज्ञान ज्ञानभाव एवं स्वप्न ज्ञान) तथा ५–स्मृतिज्ञान–इन पञ्चप्रकारक ज्ञानों का प्रतिपादन है। योगसूत्र के तृतीय पाद में अनेक विध ज्ञानों का प्रतिपादन है–१. अतीतानागतज्ञान, २ सर्व-

भूतज्ञान, ३ पूर्वजातिज्ञान ४ परचित्तज्ञान, ५ अपरान्त (मृत्यु) ज्ञान, ६ सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्ट-ज्ञान, ७ भुवनज्ञान ८ ताराज्ञान, ९ तारागतिज्ञान, १० प्रातिभज्ञान, ११ चित्तज्ञान, १२ पुरुषज्ञान १३ सर्वज्ञातृत्व १४ विवेकज (यो० सू० ३।१६-५४) जो ज्ञान तत्त्व के कार्य या ज्ञानकार्य कहे जा सकते हैं। इनकी प्राप्ति वहाँ योग साधन (संयम) से कही गयी है।

सम्प्रज्ञात संसम्यक् प्रकारेण (सम्यगर्थे संप्रोक्तः दुष्प्रयोगो विवर्जितः) प्र प्रकृष्टरूपेण ज्ञात जातम् (ज्ञा अवबोधने क्र्या०) योग भी ज्ञानयोग ही है-"वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात्म सम्प्रज्ञातः। यो. सू. १।१७" तत्र शब्दार्थज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्काः॥यो० सू. १।४२-४३॥" निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः यो० सू० १४।७।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता-यो० सू० २।६।" वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता-इन चारों के योग से सम्प्रज्ञात योग होता है। प्रज्ञा योग का साधक है (यो० सू०)। जब योगी की बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है तब बुद्धि ऋतम्भरा हो जाती है-"ऋतम्वरा तत्र प्रज्ञा-यो० सू० १।४८।' उस ऋतम्भराप्रज्ञा की विशेषता एवं महत्त्व है-श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्य विषया-विशेषार्थत्वात्॥ तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। यो०सू० १।४९-५०॥" दुःखों का अभाव (नाश) विवेक से होता है और विवेक प्राप्त पुरुष की सात प्रकार की स्थिति होती है (यो० सू० २।२६-२७)। योगों के अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेक में होता है-"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरविवेकख्यातेः-यो० सू०२।२८।" संयम की सिद्धि से बुद्धि का प्रकाश होता है-"तज्जयात्प्रज्ञालोकः यो० सू० ३।२।" जिसका ज्ञान कीं सप्तभूमियों (यो० सू०२।२७) में प्रयोग करनाचाहिए-"तस्य भूमिषु विनियोगः यो० सू० ३।६।"

सर्वप्रकार के आवरण एवं मल हटजाने पर ज्ञाने अत्यन्त (सीमारहित) हो जाता है एवं ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है। ज्ञान व्याप्य एवं ज्ञेय व्यापक बनजाता है-"तदा सर्वावरण मलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्। यो० सू० ४।३१।"

न्यायदर्शन में भी परमात्मा (परमेश्वर) एवं आत्मा (जीवात्मा) के ज्ञानों में भेद बतलायागया है-परमात्मत्वं च समवायेन नित्य ज्ञानत्वम्। समवायेन जन्यज्ञानवत्वं जीवत्वम् "प्रतिबिम्ब" "तत्र नित्यायाः आश्रयः प्रमाणम्। अनित्ययाः साधकतमं प्रमाणम् "लक्षणमाला॥"

'द्रुगतौ (भ्वा) द्रवति। धातु से कृत् प्रत्यय से द्रव्य शब्द बनता है। अर्थ होता है गति-वाला या गतियोग्य। गति का भी चार अर्थ माना जाता है-गति गमने, गति प्राप्तौ, गति ज्ञाने, गति मोक्षे।

निरुक्त में 'भावप्रधानम् आख्यातम् सत्वप्रधानानि नामानि। कहकर सत्त्व अर्थात् द्रव्य की प्रधानता को नाम कहा है। व्याकरण में द्रव्य का लक्षण 'लिङ्ग संख्यान्वितं द्रव्यं सत्त्वमित्य-भिधीयते' अथवा 'लिङ्ग संख्याकारकान्वितं द्रव्यम्" कहा है।

कोश में 'द्रव्यं भव्यं गुणाश्रये-अ. को. ३।३।१५५' लिखा है। अर्थात् द्रव्य शब्द का दो अर्थ होता है। १ भव्य एवं २ गुणों का आश्रय।

वैशेषिक सूत्र में कणाद ने लिखा है-"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यम्-वै०सू० १।१।१५।" जिसमें गुण, क्रिया अथवा समवायिकारण रहे उसे द्रव्य कहते हैं।

श्रीरामानन्द वेदान्तसार में लिखा है-'तत्र द्रव्यमुपादानम्" अर्थात् उपादान को द्रव्य कहते हैं। प्रमेय परिशोधनी में भी लिखा है-उपादानं द्रव्यमुच्यते।"

इस प्रकार लक्षण वैविध्य के कारण वैशेषिक, मीमांसो, श्रीरामानन्द विशिष्टाद्वैत वेदान्त, श्रीमध्व वेदान्त आदि में द्रव्यों के विभाजन एवं संख्योदि के सम्बन्ध में मतभेद है।

वैशेषिक, १ पृथिवी, २ जल, ३ तेज, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिक्, ८ आत्मा और ९ मन, ये द्रव्य मानते हैं।

मीमांसा १ पृथिवी, २ जल, ३ तेज, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिक्, ८ आत्मा, ९ मन, १० शब्द और ११ तम–ये एकादश द्रव्य मानती है।

श्रीरामानन्द वेदान्त—१ ईश्वर, २ जीव, ३ नित्यविभूति, ४ ज्ञान, ५ प्रकृति और ६ काल–छः द्रव्य मानता है।

श्रीमध्व वेदान्त–१ परमात्मा, २ लक्ष्मी, ३–जीव, ४ अव्याकृत, ५ आकाश, ६ प्रकृति, ७ गुणत्रय, ८ महत्त्व, ९ अहंकार, १० बुद्धि, ११ मन, १२ इन्द्रिय, १३ मात्रा, १४–भूत, १५ ब्रह्माण्ड, १६ अविद्या, १७ वर्ण, १८ अन्धकार, १९ वासना, २० काल और २१ प्रतिबिम्ब–ये इक्कीस द्रव्य मानता है।

इस प्रकार इनमें बहुत अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसके सम्बन्ध में एक दर्शन का दूसरे दर्शन से ही मतभेद नहीं है अपितु एक दर्शन अन्तर्गत भी आपस में मतभेद है। न्यायवैशेषिक के अन्तर्गत ही दीधितिकार काल एवं दिक् को पृथक् द्रव्य नहि मानकर उसे ईश्वर के अन्तर्गत ही मानते हैं। इस प्रकार उनके मत में सात ही द्रव्य है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य दो प्रकार के हैं–१ मूर्त्त द्रव्य (पृथिवि–जल–तेज–वायु–मन) और २ अमूर्त्त द्रव्य(काल–आकाश–दिशा–आत्म) १ मूर्त्त का अर्थ यहाँ सीमित परिमाण वाला और अमूर्त्त का अर्थ महत् परिमाण वाला है।

श्री रामानन्द वेदान्त में ज्ञान को द्रव्य एतावता स्व लक्षणानुसार उपादान (तत्र द्रव्यमुपादानम्) मानते हैं परन्तु ज्ञान उपादान का कार्य क्या है। उपादान तो मूर्त्त वस्तु होता है। पुनः जब ज्ञान द्रव्य है तब शब्द (प्रत्यक्ष) वस्तु द्रव्य क्यों नहीं है? यह भी विचारणीय है।

❁ संज्ञानसूक्तव्याख्या ❁

[व्याख्याकार—वैदेहीकान्तशरण]

ऋग्वेद का अन्त संज्ञान सूक्त में हुआ है। इसका अन्तिम सूक्त यही संज्ञान सूक्त है। इस सूक्त में तीन मन्त्रों के देवता 'संज्ञानम्' हैं। अतः इन्हे संज्ञान सूक्त कहा जाता है जो इस प्रकार है–

(१) "सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भाग यथापूर्वं सज्जनाना उपासते ॥

(२) समानो मित्रः समिति समानी समानमनः सह चित्रमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

(३) समानी व आकूति समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥

ऋ० १०।१९१।२-४=अथर्व० ६।६४। १–३॥"

(१) सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसिजानताम्' वाक्य का क्रियापद (विधेय पद) लोट् लकार में है। लोट् लकार का प्रयोग विधिः (प्रेरणम् भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्) निमन्त्रणम् नियोगकरणम्,

आवश्यकेश्राद्धभोजनादौदौहित्रादेः प्रवर्तनम्) आमन्त्रणम् (कामचारानुज्ञा) अधीष्टः (सत्कारपूर्वको व्यपारः) सम्प्रश्नः (इदं कार्यं न वेति विचार्य निर्धारणम् सम्प्रश्नः) प्रार्थनां (याञ्चा) के निमित्त होता है। यह आज्ञा बोधक होता है यहाँ उद्देश्य पद वो (तुमलोग) मध्यमपुरुष का बहुबचन है। तदनुसार तीनों क्रिया पद संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं मनांसिजानताम् भी मध्यम पुरुष के बहुबचन रूप में प्रयुक्त है। वे तिनों क्रियापद मन–वचन–कर्म के क्रियाओं के प्रतिपादक हैं अतः समस्त मन–वचन शरीर के बोधक हैं। प्रथम शारीरिक क्रिया संगच्छध्वं का उपदेश है गच्छ (गम गतौ के चार अर्थ होते हैं–गमन, प्राप्ति, ज्ञान, मोक्ष, द्वितीय वाचनिक क्रिया पद व्यक्तायां वाचि का उपदेश है और तृतीय मानसिक क्रिया जानताम् (ज्ञ अवबोधने) का उपदेश है। पुनः इन तीनों क्रियाओं के साथ'सम्' उपसर्ग विशेषण का प्रयोग है। सम का अर्थ–"सम् कल्याणे सुखे सन्तु शोभनार्थ समार्थयोः। सङ्गार्थे च प्रदृष्टार्थे–मे० १८३।५४। सम्यगर्थे सं प्रोक्तःदुष्प्रयोगविवर्जितः।" उपदेशक (ईश्वर को) यह 'सम्' पद यहाँ इतना अभीष्ट है कि तीनों क्रियाओं के साथ पृथक् रूप से तीनवार इसका प्रयोग किया है। ईश्वर यहाँ जीवों को आज्ञा एवं उपदेश देता है कि तुमलोग उक्त सम् बोधक, कल्याण, सुख, शोभन, सम (समान) सङ्ग (साथ) अदृष्ट प्रकृष्ट रूप तृप्त, प्रीत) सम्यक्प्रकार के मार्ग पर चलो और इसके विपरीत कार्य मत करो। इसी प्रकार कल्याणोदि वचन बोलो और मन से सोचो। अर्थात् तुम्हारा सभी शारीरिक, वाचनिक और मानसिक व्यापार सम्यक् प्रकार का हो।

'देवा भागं यथा पूर्वे सज्जनाना उपासते' वाक्यमें उपदेष्टा ईश्वर यथा (सदृशेनिश्चयेऽपि-स्याद् यथा तुल्यार्थमानयोः–मे–१८१।३६) पद से उपमा के द्वारा उपदेश प्रकार को स्पष्ट करता है कि तुम्हारा उपरोक्त तीनों शारीरिक-वाचनिक मानसिक व्यापार कैसा हो तो जैसे पूर्वे (पूर्वकाल आदि काल में परंपरारूप से) सम्यक् और समान प्रकार से देवा सज्जनाना (कुलीन देवताओं द्वारा) उपासते (उपासनं शराभ्यासेऽप्युपास्तावासनेऽपि च। मे० ९५।७२) उपभोग करते हैं अपने भागं (हिस्सा को–भागोरूपार्ध्दके भाग्यैकदेशयो) यज्ञ में देवताओं के नाम से समुच्चय रूप से पुष्प अक्षत–चन्दन–आहुती दी जाती है जैसे "इदम् अक्षतं इन्द्रादिदशदिग्पालेभ्योनमः" परन्तु वे देवता सम्यक्रूप से एक साथ सुखपूर्वक अपने अपने भागोंको ग्रहण करलेते हैं, परस्पर विवाद नहीं करते। इसी प्रकार ईस्वर द्वारा समष्टि रूप से प्रदत्त वस्तुओं को सभी लोग अपने अपने भागों का ही उपभोग करो परस्पर झगडा मत करो।

(२) समानो मन्त्रः (जिसके मनन करने से रक्षा होती है वह गुप्त रहस्य विचार समान एकरूप परस्पर अविरोधी हो) समिति समानी (समासमिति रित्युक्तसमितिः संय्युगावनी। समितिः समयोज्ञेयः संग्रामः समितिर्म्मत।) अनेका० ध्व० मं· ७४।।" समितिः सम्परायेस्यात्सभायां सङ्गमेऽपि च। मे० ६६। १६६।" समान हो।) समानं मनः (मनः मनु अवबोधने मनन साधनेन्द्रियो' एक रूप परस्पर अविरूद्ध हो) सहचित्तमेषाम् (चिती संज्ञाते, सम्यग्ज्ञान साधनेन्द्रिय भी इसके साथ समान हो मन्त्रमभिमन्त्रयेवः [वः (तुमलोगों को) समान (एकरूप) मन्त्रम् (मन्त्र) अभि अभीत्थमभूत कथने चाभिमुख्याभिलाषयोः मे० १८२।४७) मन्त्रये (मत्रिगुप्त परिभाषणे' मन्त्र देता हूँ, गुप्त रहस्य वतलाता हूँ। अभिमन्त्रित करता हूँ संस्कारित करता हूँ। समान मन्त्र पद से यहाँ निर्दोषं हि समंब्रह्म–गीता के अनुसार ब्रह्ममन्त्र–"ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसङ्गंत्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्म पत्रमिवाम्भसा।।गी० ५।१०।।" "ब्रह्मणे नमः" मन्त्रोपदेश करता हूँ। एवं वो (तुम्हारे लिये) समानेन (समानरूप से हविषा जुहोमि (हवि से हवन करता हूँ) हविर्होतव्यमात्रे

व सर्पिष्यपि न पुंसकम्। मे० १७३।४७। हव आज्ञाध्वराह्वाने ह्रस्व न्यक्रू खर्वयोस्त्रिषु। हु दाना-दनयोः (जुहो०) दानं चेह सक्षेपः प्रक्षेपः विधिबोधिते आधारे आहवनीयादौ पुरोडाशादि हविष इति लभ्यते इत्सन्वयः।" हवि से हवन करता हूँ का तात्पर्य 'ब्रह्मणे स्वाहा' उच्चारण से भी है। यहाँ परमेश्वर सामान्य 'ब्रह्मणेनमः, ब्रह्मणेस्वाहा' का संकेत किया है जो लोग श्रीसीताराम को ब्रह्म मानते हैं उनके मत में यहाँ 'रामाय नमः, सीतायै स्वाहा' का उपदेश है। यों तो मन्त्र पद से यहाँ वेद मन्त्र (वेदोपदेश) का ग्रहण है। यहाँ परमेश्वर जीवों के लिये हवि हवन करने की बात 'वो हविषां जुहोमि' कहकर अपने वेदोपदेश 'देहि मे ददामि ते शु० य० ३।५०' तथा गीतोपदेश "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। गी० ३।११।।' का संकेत करता है। जीव ब्रह्म के लिये आसक्ति छोड़कर कर्म करे और ब्रह्म जीवों के लिये हविष का क्षेपण (दान) करेगा। पुनः 'समानो मन सहचित्तमैषाम् से गीतोक्त "आत्मौपम्येन सर्वत्र समंपश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वो दुःखं स योगी परमो मतः ।।गी० ६।३२।। तथा "आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति" के समान अनुभूति या सहानुभूति का संकेत है।

(३) वः (तुमलोगों को) आकूति (प्रयत्न-अध्यव्यवसाय) समानी (समान) वः (तुमलोगों का) हृदयानि (चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः–अ० को० १।४।३१। समाना (एक समान हो) वो (तुम लोगों का) मनो (मननसाधनेन्द्रिय) समानमस्तु (एक समान हो) यथा (जिस प्रकार) व (तुमलोगों का) सु सहासति (शोभन मार्ग हो)

इस प्रकार सम्पूर्ण सूक्त में ब्रह्म का जीवों के प्रति सम्यक् प्रकार के निर्दिष्ट समता और एकता का उपदेश है। जीवों में पारस्परिक भावना का उपदेश है। यही सम्यक्ज्ञान संज्ञान है।

卐

卐 ईश्वर शरीरी है 卐

[वैदेहीकान्तशरण]

न्यायदर्शन "क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं, कार्यत्वात्, घटवत्। न च तत्कर्तृकत्वमस्मदानीनां सम्भवतीति। अतः तत्कर्तृत्वेन ईश्वरसिद्धिः।" इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि करते हैं। इस कार्यत्वानुमान से जगत् का सकर्तृकत्व एवं ईश्वर कर्तृकत्व की सिद्धि में घटादिकार्यों का कर्ता शरीरी होने से व्याप्ति के अनुसार कर्ता शरीरी ही सिद्ध होता है। अतः ईश्वर को जगत्कर्ता होने पर पक्षधर्मतया जगत्कर्ता ईश्वर शरीरी ही सिद्ध है। अशरीरस्य कर्तृत्वं दृश्यते नहि कस्य-चित्।' कुछ लोग इस अनुमान प्रयोग में 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास इस आधार पर मानते हैं कि "यत्र यत्र सकर्तृकत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वं' यह साध्यव्यापकत्व हुआ और 'यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वमिति न' यह 'साधनाव्यापकत्व' हुआ। अतः 'साध्यव्यापकत्वेसतिसाधनाव्यापकत्वं मुपाधिः' लक्षण घटित हो जाने से 'कार्यत्वात्' हेतु सोपाधिक एतावता उपाधिसद्भावात् व्याप्य-त्वासिद्ध हेत्वाभास है। परन्तु यह आपत्ति भ्रान्त है। यत्र यत्र सकर्तृकत्वम् हेतु व्याप्ति सर्वथा निर्दोष है 'यत्र यत्र सकर्तृकत्वम तत्र तत्र कार्यत्वमिति न'–ऐसा नहीं कहा जा सकता। यत्र यत्र सकर्तृकत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वं न' यह कथन भ्रान्त है। परन्तु तुष्यतु सुजनाः न्याय से इसे

अभ्युपगम सिद्धान्तानुसार कुछ क्षणों के लिये विचार के लिये स्वीकार भी कर लिया जाये तो कार्य एवं कर्तृकत्व को दो प्रकार का मानना होगा–(१) ज्ञानजन्य बुद्धिमत् कार्य और कर्तृत्व और (२) बुद्धिशून्य कार्य और कर्तृत्व। जगत् कार्य यन्त्रवत् बुद्धिमत् है। रकेट के अभियन्ता के समान। क्योंकि इसमें यान्त्रिक रचना, यान्त्रिक व्यवस्था ही नहीं अपितु बौद्धिक नियन्त्रणात्मक प्रयोजनवती व्यवस्था है। ऐसा बुद्धिपूर्ण कार्य या कर्तृत्व शरीरजन्य ही होता है अशरीरजन्य नहीं। अतः उपरोक्त कार्यानुमान में क्षित्यङ्कुरादिकं शरीरीकर्तृजन्यं, बुद्धियुक्त कार्यत्वात्, प्रयोजनवान् कार्यत्वात् वा' तात्पर्य है। अतः यत्र यत्र सबुद्धिकर्तृकत्वम् तत्र तत्र शरीरजन्यत्वं' यह साध्यव्यापक के साथ यत्र यत्र सबुद्धिकार्यत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वम्' यह साधनव्यापकत्व' भी होने से यह हेतु सोपाधिक नहीं है। स्वयं उदयनाचार्य ने 'प्रवाहोनादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान्। तत्त्वे यत्नवताभावमन्वयव्यतिरेकयोः ॥ न्या० १।६ में वैजात्य कल्पना सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और चार्वाक के व्यतिरेक व्यभिचार शङ्का [तृणसत्वेवह्नि सत्ता, अरणिसत्वेवह्निसत्ता, मणिसत्वे वह्नि सत्ता' यह अन्वय तो बनता है, किन्तु तृणाभावेवह्न्या भावः; अरण्याभावे वह्न्याभावः' मण्याभावे वह्न्याभावः, यह व्यतिरेक नहीं बनता है] का उत्तर न्यायमत से वैजात्य कल्पना अर्थात् तृण अरणि और मणि से उत्पन्न होनेवाले अग्नि सब विजातीय [भिन्न प्रकारक] अग्नि हैं। अतः तृण सत्त्वे तार्णवह्नि सत्ता और 'तृणाभावे तार्ण वह्न्यभावः' यह अन्वय-व्यतिरेक दोनों बन जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी कार्यों में वैजात्य मानना पडेगा बुद्धिपूर्वककार्य बुद्धिरहितकार्य अतः उक्त अनुमान में व्याप्यत्वासिद्ध की आशङ्का व्यर्थ और भ्रान्त है। यह तो हुआ उत्तर आपत्तिकर्ता की आपत्ति को अभ्युपगम सिद्धान्त के अनुसार स्वीकार कर लेने पर। परन्तु वास्तव सभी कार्य आत्मा ज्ञान-इच्छा प्रयत्न का अधिकरण द्वारा एतावता शरीरी कर्त्ता द्वारा ही होता है। कुछ कार्य साक्षात् शरीरी कर्ता द्वारा और कुछ कार्य द्वारा और कुछ कार्य परोक्ष रूपसे शरीरीकर्ता द्वारा जिस कार्य को आपत्ति कर्ता अशरीरी जन्य मानते हैं वे भी परोक्ष शरीरी कार्य हैं। क्योंकि कार्य प्रयत्न जन्य होता है और प्रयत्न का अधिकरण आत्मा होता है और शरीरी आत्मा ही होता है। क्योंकि प्रयत्न का आश्रय शरीर ही होता है–'चेष्टाश्रयशरीरम्'। जिसप्रकार जीवात्मा का तीन प्रकार का शरीर [१ स्थूल शरीर, २ सूक्ष्म शरीर, ३ कारण शरीर] होता है, उसी प्रकार परमात्मा का भी तीन प्रकार का शरीर [१-अचित् शरीर, २ चित् शरीर ३ दिव्य शरीर] होता है। जिस प्रकार जीवात्मा का कार्य शरीर जन्य होता है उसी प्रकार परमात्मा का भी। जीवात्मा भी परमात्मा से प्रेरित होता है। भौतिक शरीर भी पार्थिव, जलीय, तेजस, वायवीय, भेद से वैशेषिक शास्त्र एवं न्याय शास्त्र को मान्य है–'पृथ्वी त्रिविधा शरीरेन्द्रिय विषय भेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। आपः त्रिविधा शरीरेन्द्रिय विषयभेदात्। शरीरं वरुण लोके [जलीय शरीरं वरुण लोके प्रसिद्धम्। अत्रापि पृथिव्या उपष्टम्भकत्वम्। जलस्य प्रधान्याज्जलीयत्वम्। प्रतिविम्ब]। तेजः त्रिविधम्–शरीरेन्द्रिय विषय भेदात्। शरीरमादित्यलोके। [तैजसं शरीरं आदित्य लोके प्रसिद्धम्–प्रतिविम्ब] वायुस्त्रिविधः शरीरेन्द्रिय विषयक भेदात्। शरीरं वायुलोके [वायवीय शरीरं वायुलोके पिशाचादिनां प्रसिद्धम् प्रतिविम्ब]। त० स०।" जहाँ कोई ब्रह्म के शरीर का प्रत्याख्यान करता है वह शरीर के "शीर्यते प्रतिक्षणमिति शरीरम्' 'अथवा आत्मनो भोगायतनं शरीरम" लक्षण के अनुसार। क्योकि ब्रह्म का शरीर तत्प्रकारक नहीं है। किन्तु 'चेष्टाश्रयः शरीरम्', 'इन्द्रियाश्रयः शरीरम्', अर्थाश्रयः शरीरम् [चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्–न्यो०सू० १।१।११] लक्षण के अनुसार नहीं। बिना एतत्प्रकारक शरीर के ईश्वर सृष्टि कर्ता हो ही नहीं सकता। ठीक ही कहा गया है–"अशरीरस्य कर्तृत्वं दृश्यते नहि

कस्यचित् ।" कुछ लोग इस कथन पर आपत्ति करते हुये कहते हैं-" न च कस्यचित् कुत्रचिद् अशरीरस्य कर्तृत्वमदृष्टचरमिति वाच्यम्, स्वशरीरप्रेरणे स्वात्मनः शरीरस्य कर्तृत्व दर्शनात् ।।" परन्तु यह हेतु भी तो शरीरनिष्ठ आत्मा का ही कर्तृत्व साधक है, शरीर रहित आत्मा का नहीं । अतः इससे कर्ता का शरीरत्व होना और भी दृढता से प्रमाणित होता है । पुनः न्याय कुसुमाञ्जलि में ईश्वर को सृष्टि के आरम्भ में काठकादि शरीर धारण कर वेदों का उपदेश करने वाला कहा है- समाख्यापि च शाखानां नाद्य प्रवचनादृते-न्या॰ कु ५।१६-"सर्वासां शाखानां हि काठक कलापकाद्या समाख्या संज्ञा विशेषाः श्रूयन्ते ते च नाध्ययनमात्र निबन्धनाः । अध्येतॄणामानन्त्यादादावन्यैरपि तदध्ययनात् । तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शीभगवानेव कारुणिकः सर्गादावस्मदाद्यदृष्टाकृष्टकाठकादिशरीरविशेष-मधिष्ठाय यां शाखामुक्तवान् तस्याः शाखायास्तन्नाम्ना व्यपदेश इति सिद्धमीश्वरमननं मोक्ष हेतुः "ह०वृ० ।" पुनः न्या. कु. के' मायावत् समयादयः ।२।२।' की वृत्ति में लिखा है-"यथा मायावी सूत्रसञ्चाराधिष्ठितं दासपुत्रकं कृत्वा दासपुत्रक ! घटमानय इत्यादि नियोज्य, घटानयनं सम्पाद्य, बालकस्य व्युत्पत्तौ प्रयोजकस्तथेश्वरोऽपि प्रयोज्य प्रयोजकभावापन्नं शरीरद्वयंपरिगृह्य व्यवहारं कृत्वा तदानीन्तनानां शक्तिग्राहयति । एवं घटादि सम्प्रदायमपि स्वयं कृत्वा शिक्षयति । तदिदमुक्तं 'मायावत् समयादय' इति । समयः शक्तिग्रहः ।।" इन सबों से ईश्वर को बिना शरीर का कार्य सम्पादन नहीं संभव सिद्ध होता है, प्रत्युत ईश्वर का शरीरी होना ही सिद्ध है । कुछ लोग कहते हैं कि कर्तृत्व के लिये शरीर का होना आवश्यक नहीं है । कर्तृत्व के लिये केवल इच्छा ज्ञान प्रयत्न ही आवश्यक है-कर्तृत्वं चेतर कारक प्रयोजकत्वे सति सकल कारक प्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञानचिकीर्षा प्रयत्नाधारत्वम् ।" परन्तु इच्छा ज्ञान का अधिकरण आत्मा (जीवात्मा-परमात्मा) है और प्रयत्न का अधिकरण शरीर ही है-'चेष्टाश्रयः शरीरम् ।" अतः इस लक्षण के अनुसार भी कर्तृत्व के लिये शरीर अनिवार्य है।

तत्त्वार्थपञ्चक में ईश्वर को शरीरी मानने वाले अनेकों मतों का निरूपण है-'(११) परमात्मा पशरीरी पुरुषादृष्टेन कान्ताशरीरस्येव अस्मदीयादृष्टेन तच्छरीरस्य (इच्छा प्रयुक्तस्य जननसम्भवात् । अतएव चतुर्भुजत्वादि श्रवणं संगच्छत इत्यन्ये नैयायिकाः । (१२) परमाणव एवेश्वरशरीरमिति केचित् । (१३) आकाशमेवेश्वर शरीरमिति केचित् । (१४) ईश्वर सर्गादौ शरीरद्वयं परिगृह्य व्यवहरतीति केचित् । (१५) संसारीनामदृष्टवशात् ईश्वरस्य शरीरं तच्च ब्रह्माविष्णुशिवात्मकमिति केचित् । (१६) भूतावेश न्यायेन ईश्वरस्य शरीरमिति केचित् । (१७) ईश्वरः शरीररहित एव, परन्तु संसार-पङ्कनिमग्नान् अज्ञानिनः उद्दिधीर्षुः लीलाविग्रहं दधाति । इति केचित् । (१८) जीवेश्वर शरीरमिति केचित् । १९ अपाकृतं सच्चिदानन्दाद्येवशरीरमिति केचित् ।।" इससे प्रमाणित है कि सभी लोग किसी न किसी रूप में ईश्व को शरीरी ही मानते हैं । वास्तव में ईश्वर दिव्य शरीरी है । और वह अप्राकृतिक सच्चिदानन्दरूप शरीर हैं एवं सामान्य रूप से वह त्रिविध [अचित् चित् दिव्य] शरीरी है । "आकाश शरीरं ब्रह्म तैत्तिरी॰ योपनिषद् ।।" आसमन्तात् काशते प्रकाशत इत्याकाशं देदीप्यमानमाकाशं शरीरं यस्य देदीप्यमानविग्रहविशिष्टं ब्रह्म भवति । आनन्दभाष्यम १।६।३।

वेदों में भी उसे शरीरी बतलाया गया है तथा उसके हाथ [हिरण्य पाणिः] बाहू (हिरण्य बाहवे), जिह्वा (हिरण्य जिह्व) मुखादग्निश्च इन्द्रस्य) पैर (पद्भ्यांभूमिर्दिशः) मन (चन्द्रमा मनसो जातः) चक्षोः सूर्योऽजायत) आदि अङ्गों का भी निरूपण है, उसे हाथों द्वारा विश्व रचना करने वाला कहा गया है-विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतोबाहूरुत विश्वतस्पात । सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।। ऋ॰ १०।८१।३= शु. य. १७=अथर्व॰ १३।२।२६।।"

आर्यसमाजी और इस्लामीओं का कथन है कि ईश्वर को शरीरी मानने में तीन दोष हैं–(१) शरीरी मानने पर वह विनाशी हो जायेगा। परन्तु भौतिक शरीर ही विनाशी होता है अप्राकृतिक दिव्य शरीर नहीं। (२) शरीरी पदार्थ एक देशी होता है। परन्तु सूर्य एकदेशी होते हुये भी अपने प्रभासे सर्वव्यापक है। पुनः ईश्वर तो दिव्य शरीरी एवं सर्वशक्तिमान् है अतः वह अपनी शक्ति से सर्वव्यापक है। (३) शरीरी अल्पज्ञ होता है। परन्तु जन्यज्ञानवान् जीवात्मा अल्पज्ञ होता है। नित्यज्ञानवान् दिव्यशरीरी ईश्वर नहीं। अतः सभी दोषापत्ति व्यर्थ है।

सांख्य के अनुसार भी किसी की भी कार्य की सिद्धि के लिये पांच परिघटकों की आवश्यक है–

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानिनिबोधमे। सांख्येकृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टादैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्यहेतवः॥ गी॰ १८।१३–१५॥

इसमें अधिष्ठान शरीर को कहा गया है–"अधिष्ठीयते भगवच्छरीरभूतेनात्मना यस्मिंस्तदधिष्ठानं भोगायतनं शरीरम्" (आनन्दभाष्यम्) "अधिष्ठानमधिष्ठीयतेस्वकर्मफलभोगायात्मना यत्तत्पञ्चभूतसंघातरूपं शरीरमेवाधिष्ठानम्" (अर्थचन्द्रिका) अत एव बिना अधिष्ठान (शरीर) कारण के किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती मन और बुद्धि भी शरीर में अधिष्ठित होकर हीं कार्य करती हैं। अत एव मानसिक और बौद्धिक कार्य भी बिना शरीर (अधिष्ठान) के सम्भव नहीं है। न्या. सूत्र प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः–न्या. सू. १।१।१७ का भी तात्पर्य शरीर (अधिष्ठान) से ही है वेद भी "संबाहुभ्यांधमतिसंपतत्रैर्द्यावामूमीजनयन्देव एकः–शु. य. १७–१९ ऋ १०।८१।३=अथर्व १३।२।३६=श्वे॰ उ॰ ३।३ तै. सं. ४।६।२४ तै. आ १०।१–३ ईश्वर को दोनों हाथों द्वारा विश्वोत्पादक कहता है शु. य. १७।२८ में असूर्ते सूर्ते रजसि निधते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।" विश्वकर्मासूक्त। कहा है यहाँ 'असूर्त्ता लिङ्गशरीरैः से ईश्वर शरीरी ही सिद्ध होता है।

निरीश्वर सांख्य को भी प्रकृति को नर्तकी बनाकर पुरुष के समक्ष मञ्च पर उतारना पड़ा है। यह मञ्च नर्तकी भी तो चेतन और शरीरी ही हो सकती है। अतः किसी भी रूप में जगत्कर्ता को शरीरी होना अनिवार्य है।

卐

卐 ईश्वर प्रत्यक्ष प्रमाण वेद्य है 卐

(ले॰ वैदेहीकान्तशरण–तुरकी)

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है। परन्तु यह कथन भ्रान्त है। ईश्वर प्रत्यक्ष प्रमाण वेद्य है।

ज॰गु॰ श्रीतुलसीदासजी ने ईश्वर को प्रत्यक्ष प्रमाण वेद्य नहीं मानने वालों को फटकारते हुये कहा है—

"हम लखि हमहि हमार लखि, लखि हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहिं, राम नाम जपु नीच ॥"

उन्होंने ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं देखने का कारण बतलाते हुये कहा है—

"नयन हींन अरु मुकुर विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥"

किसी प्रत्यक्षदर्शी सन्त ने कहा है—

"राम नाम के साबून से मन का मैल मिटायेगा। निर्मल मन के दर्पण में राम का दर्शन पायेगा॥
रोम रोम में राम रमे हैं, तिलभर तुझसे दूर नहीं।
देख सकेओ आँखन उनकों, जिन आँखों में नूर नहीं॥
देखेगा ओ मन मन्दिर में, प्रेमका ज्योति जगायेगा।
निर्मल मनके दर्पण में, ओ रामका दर्शन पायेगा॥

❀ ❀ ❀

भक्ति तुम्हारी कच्ची है, जब तक प्रभु पर विश्वास नहीं।
मंजिल का पाना है क्या, जो दीपक में प्रकाश नहीं॥"

ज. गु. श्रीतुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस के आरम्भ में ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥"

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परं तप।११।५३-५४।
"न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुसा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम्।११।८।"

किसी वस्तु का दर्शन के लिये प्रधानतया दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है–१ नेत्र और २ प्रकाश। ईश्वर के दर्शन के प्रकरण में प्रेम को ज्योति अथवा भक्ति को दीपक का प्रकाश कहा गना है एवं विश्वास को प्रकाश माना गया है तथा श्रद्धा को नेत्र। यों तो शास्त्र को भी नेत्र कहा गया है—

"अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्यनास्त्यन्धएवसः॥"
"गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः। चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥"

परन्तु नेत्र (प्रज्ञा) हीन के लिये शास्त्र भी व्यर्थ है—

"यस्यनास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥"

इसलिये दर्शन के लिये तो दर्पण चाहिए हीं साथ ही दिव्य चक्षु भी चाहिए। मन का दर्पण मलिन रहेगा तो उसमें राम दर्शन कैसे होगा?

"धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च। यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।गीता ३।३८-३९।

अतः एव जबतक कामनाशक (जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम। तुलसी कबहुँ कि है सकहिं, रवि रजनी इकठाम) राम नाम के साबून से मन का मैल नहीं मिटाया जाता है तब तक निर्मल मन के दर्पण में राम का दर्शन कैसे पाया जा सकता है? तुलसीदासजीने श्रीगुरुचरणों के पराग को–'जन मन मञ्जु मुकुरमल हरणी' कहा है। क्योंकि श्रीगुरुचरणों में बैठकर साधना करने पर हीं मन मुकुर के मल का हरण होता है और "श्रीगुरुपदनख मणि गण ज्योति। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती हैं।" पुनः 'उघरहि विमल विलोचन हिय को। मिटहि

दोष दुःख भव रजनी को।" आदि होता है। अतएव कहा है "अज्ञानतिमिरान्धस्यज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मिलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः।" अतः गुरु कृपा से दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होने से ही ईश्वर का दर्शन होता है।

न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्येककार्य की अपनी कारणशक्ति के अतिरिक्त प्रतिबन्धक संसर्गाभाव भी एक कारण है, जो कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण है। सारी कारण सामग्री उपस्थित होने पर भी यदि कोई प्रबल प्रतिबन्धक आ जाता है तो कार्य नहीं होता। इसलिये न्याय दर्शन में प्रतिबन्धक संसर्गाभाव को भी कारण माना गया है। प्रकृत दर्पण में दर्शन का प्रतिबन्धक मल है। इस प्रकार जबतक मन के दर्पण में निहित मल के संसर्ग का अभाव नहीं होगा तबतक निर्मल मन के दर्पण में राम का दर्शन कैसे मिलेगा ?

ईश्वर यदि दर्शन का विषय नहीं होता तो-"आत्मावारे द्रष्टव्यः" कैसे कहा जाता ?

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।६।३०।"

"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।१३।२४।।"

प्रह्लादजी ने ईश्वर के दर्शन की योग्यता के सम्बन्ध में कहा हैकि मात्सर्यादि षड् विकार प्रतिबन्धक हैं—

"वेदान्तवाक्यशतमारुत सम्प्रवृद्ध वैराग्यवह्निशिखया परिताप्य चित्तम्।
संशोधयन्ति यदवेक्षणयोग्यतायै धीराः सदैव सकथं मम गोचरः स्यात्।।
मात्सर्यरोषस्मरलोभमोहमदादिभिर्बा सुदृढै सुषड्भिः।
उपर्युपर्यावरणैः सुबद्ध-
मन्धं मनो मे क्व हरिः क्व वाहम्।।नरसिंह पु.४३।५७-५८

सगुण निर्गुण तत्त्व विवेक

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

ब्रह्म के सम्बन्ध में जितने भी प्रश्न हैं उनमें सगुण निर्गुण का प्रश्न सबसे प्रमुख है। इसी लिये श्रीरामचरितमानस में पार्वती सर्वप्रथम इसी विषय का प्रश्न पूछती है-"प्रथम सो कारण कहहु विचारी। निर्गुण ब्रह्म सगुण वपु धारी।।" और शंकरजी सगुण विरोधियों की ओर संकेत करते हुये कहते हैं-"अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी। लंपट कपटी कुटिल विशेषी। सपनेहु संत सभानहि देखी। कहहिं ते वेद असंमत वाणी। जिनके सूझ लाभु नहिं हानीं।। मुकुर मलिन और नयन विहींना। राम रूप देखहिं किमि दीना।। जिन्हके अगुण न सगुण विवेका। जलपहिंकलिपत वचन अनेका। हरिमाया वश जगतभ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं।। पुनः सगुण निर्गुण के सम्बन्ध में सिद्धान्त मत देते हुये कहते हैं-"अगुणहि सगुणहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा।। अगुण अरूप अलख अज जोई।

भगत प्रेमवश सगुण सो होई ॥ जो गुण रहित सगुण सोइ कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥ राम सच्चिदानन्द दिनेशा । नहिं तहँ मोह निशा लवलेशा ॥" पुनः उपसंहार रूप में उत्तरकाण्ड में कहते हैं–"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोइ । सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥"

अतः निर्गुण सगुण विवेक होना आवश्यक विषय वस्तु है। निर्गुण सगुण का तात्त्विक [प्रमाणोपपन्नं स्वरूपं तत्त्वं–पदपंचिका] विवेक के लिये सर्वप्रथम सगुण निर्गुण पदों का अर्थ समझ लेना अत्यावश्यक है । इस क्रम में सर्वप्रथम गुण का अर्थ गुण की परिभाषा और तब सगुण निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

गुण शब्द का अर्थ धनुष की डोरी, द्रव्याश्रित २४ गुण [रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथकृत्व संयोग विभाग परत्वापरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह शब्द बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न धर्माधर्म संस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः–त. सं.] सत्त्व–रज–तम [सांख्य] ३गुण साहित्य के १० गुण [श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम् । अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणादशैते । भरत] औदार्यादि [मनोवैज्ञानिक] गुण इन्द्रिय पाचक आदि होता है– "मौर्व्यां द्रव्याश्रिते रूत्त्व शौर्यसन्ध्यादिकैर्गुणः–अ०को ३।३।४७।' "गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये । त्याग शौर्यादि सत्त्वादि सन्ध्याद्यावृत्ति रज्जुषु ।मे०।' व्याकरण में अ, ए, ओ को गुण कहा गया है–"अदेङ्गुणः–पा० १।१।४५ पुनः अ इ मिलकर ए, अ उ मिलकर ओ आदि बन जानेके सन्धि की भी गुण संज्ञा है–आद् गुणः पा. ६।१।७७॥

गुण की परिभाषा के सम्बन्ध में 'गुण आमन्त्रणे गुणयति (चुरा०) धातुपाठ ही लक्षण कहा जायेगा। परन्तु न्याय वैशेषिक के अनुसार 'द्रव्य कर्म भिन्नत्वे सति सामान्यवत्त्वम्' संक्षेप में द्रव्याश्रितत्व लक्षण है। इनके अनुसार परमात्मा के आठ गुण है संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा, कृति (प्रयत्न) और जीवात्मा में इसके अतिरिक्त सुख, दुख, द्वेष, धर्म अधर्म, संस्कार–ये छः गुण और हैं जो परमात्मा में नहीं है। व्याकरण का गुण 'अ' 'अक्षराणामकारोऽस्मि–गीता' एवं 'अकारो वासुदेवः स्यात् एका० को० के अनुसार परमात्मा में है ।

गुण के सम्बन्ध में साहित्य का लक्षण भावात्मक (सगुणत्व) ही नहीं अपितु अभावात्मक (दोष राहित्य) भी है–"महान् निर्दोषता गुणः ।' इस प्रकार साहित्य के अनुसार ब्रह्म का गुण होना (सगुणत्व) ही गुण नहीं है अपितु ब्रह्म का निर्दोष [दुष्ट गुण रहित] होना भी गुण है। अतः हेय गुण राहित्य [निर्गुणत्व] भी गुण (सगुणत्व) है।

निर्गुण शब्द में दो पद हैं निर्+गुण । निर का अर्थ निश्चय और निषेध दोनों होता है– "निर्निश्चय निषेधयोः–अ. को. ३।३।२५३॥ अतः निर्गुण पद का अर्थ निश्चित (नित्य) गुण वाला भी है । अचिन्त्यभेदाभेदवादी निम्बार्क दर्शन निर्गुण का लक्षण गुणातीतो निर्गुणः कहते हैं। कुछ लोग 'निर्गतोगुणः निर्गुणः कहते हैं, तो कुछ लोग अविकृतो गुणः निर्गुणः कहते है, कुछ लोग निखिल हेयप्रत्यनीकोगुणो निर्गुणः कहते हैं कुछ लोग अगमो गुणः निर्गुण कहते हैं जो सभी निर्गुण के पद निर्निश्चय अर्थ के अनुसार सम्पुष्ट है ।

सगुण पद में भी दो पद है स+गुण । 'अव्ययं यौगपद्य सादृश्य सम्पत्ति साकल्यान्त वचनेषु–पा० २।१।३ के अनुसार १ यौगपद्य [सगुणः=गुणेन युगपत्] २ सादृश्य [सगुणः=गुणस्य सदृशः] ३ सम्पत्ति [सगुणः=गुणानां सम्पत्तिः] ४ साकल्य [सगुणः=गुणमपि अपरित्यज्य] ५ अन्त [सगुणः=गुण पर्यन्तम्] ये अर्थ होते हैं ।

ब्रह्म के सम्बन्ध में शङ्कराचार्यजी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म के विषय में सविशेष (सगुण) और निर्विशेष (निर्गुण) दोनों प्रकार की श्रुतियां हैं–"सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्म विषयाः॥ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः, अस्थूलमनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः ।

श्रुति में ब्रह्म का निर्विशेष और सविशेष दोनों रूपों का प्रतिपादन तो है–"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ मु० १।१।६॥ परन्तु श्रुति ने निर्विशेष वाचक प्रथम वाक्य (यत्तदद्रेश्यम्०) को नपुंसकलिङ्ग में एवं सविशेष वाचक द्वितीय वाक्य (नित्यं विभुं०) को पुल्लिंग में प्रतिपादित कर यह अति स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म का अचित् शरीर ही निर्विशेष है और सच्चिदानन्द परमेश्वर सविशेष है । क्योंकि निर्विशेष नपुंसक लिंग और सविशेष पुल्लिंग में निरूपित है । इसी प्रकार ब्रह्म का शरीर [सपर्य्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम्] नपुंसकलिंग में तथा ब्रह्म का रूप [कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः यथा तथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥शु. य. ४०।८॥] पुल्लिंग में निरूपित किया है ।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आचार्यजी के अनुसार ब्रह्म का गुण सामान्य गुण नहीं है वह प्राकृतिक (भौतिक) गुणों से सर्वथा विलक्षण है । ज.गु. श्रीरामानन्दाचार्यजी ने "निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृतागुणा यस्मात्तन्निर्गुणमितिव्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेवनिर्गुणत्वम् । तथैव च सत्त्वा दयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृतागुणाः । सशुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥ योऽसौनिर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः । प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ॥वि. पु.॥ इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृतसत्त्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणोदिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः । तादृशदिव्यगुणानाञ्च "परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञान बलक्रिया च (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणोनिर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम् (आनन्दभाष्य १।२) इत्यादि रूप से निरूपण किया है । तथैव इसे अद्भुतगुण और दिव्य गुण कहा है । अद्भुत पद से विलक्षणत्व एवं दिव्य पद से नित्यत्व तथा अलौकिकत्व निरूपित है–"श्रीमन्तं श्रुतिवेद्यमद्भुतगुणग्रामाग्र्य रत्नाकरम्–श्री वै. म. भा. श्लो. १/१ चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणा–श्लो० १/२ श्रीमान् दिव्यगुणाब्धिरौपनिषदोहेतुः शरण्यः प्रभुः श्री वै. म. भा. श्लो. १।२॥ श्रीरामानुजाचार्यजी ने 'निखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतानः स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षणानन्त ज्ञानोनन्दैक स्वरूपः, स्वभाविकानवधिकातिशय ज्ञान बलैश्वर्य शक्ति तेजः प्रभृत्यसंख्येयकल्याण गुण महोदधिः' कहा है जिसमें उनके गुण में १ अखिल हेय प्रत्यनीकत्व २ स्वेतर विलक्षणत्व ३ स्वाभाविकत्व एवं ४ कल्याणत्व–ये चार विशेषण हैं वा लक्षण है । श्री शङ्कराचार्यजी ने इसे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय कहा है । श्रीनिम्बार्काचार्य के मत में इसे अचिन्त्य (१. अपरिमितमहिमत्वादचिन्त्यत्वम् २. अचिन्त्यं तर्कासह यज्ज्ञानम् ३. दुर्घट घटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्) कहा है और श्रीवल्लभाचार्यजी ने इसे अविकृत (अविकृतपरिणामीत्वं अविकृतत्वम्) कहा है । ये सभी विपर्यय बोधक पद विलक्षण अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अविकृत विपर्यय बोधक निर्गुण पद के प्रकार के प्रकाशक हैं । साधारणतया विपर्यय के तीन अर्थ होते हैं–१ अभाव २ अन्यथाभाव और ३ वैपरीत्य । यहाँ अन्तिम दोनों में ही तात्पर्य संभव होने से यहाँ निर्गुण पद से अन्यथा गुण अथवा विपरीत (लौकिक गुण विरुद्ध) गुण सिद्ध होता है ।

शास्त्रों में ब्रह्म के गुण के सम्बन्ध में कहा गया है–'जगतः कारणत्वं च सगुणत्वं स्वभावतः। त्रिपाद्विभूति युक्तःत्वं ब्रह्मणो रूपमुच्यते ॥ 'प्राप्यं सर्व गुणार्णवो निखिलभृत् रक्षैक दीक्षो महान् नित्यश्चेतन ईश्वरः सकरुणः सर्वज्ञताभूमिराट् । औदार्यादिगुणावलिश्रितऋतं सत्यं च सर्वाश्रयः, श्रीरामो हि परात्परः सुगतिभिः सेव्य सदा सर्वगः ॥'

भगवान् के गुणों का निरूपण ज.गु. श्रीमधुराचार्य कृत भगवद्गुण दर्पण में किया गया है। यहाँ भगवान् का गुण लेखका विषय नहीं है, प्रत्युत निर्गुण सगुण तत्त्व की विवेचना लेखका विषय है। अतः भगवद्गुणों की चर्चा छोड़ निर्गुण सगुण की विवेचना करता हूँ।

निर्गुण पद गुणों का अत्यन्ताभाव शास्त्रों को इष्ट नहीं है। क्योंकि सर्वत्र निर्गुणपद के साथ ही सगुण पद का भी प्रयोग है। अत निर्गुण पद का अर्थ नित्यगुण मानने पर ही निर्गुण सगुण में अन्वय और सामञ्जस स्थापित हो सकता है। अन्यथा नहीं किंच निर्गुण का अर्थ अत्यन्त गुणाभाव मानने पर ब्रह्मकी सत्ता ही समाप्त हो जायेगी। गुण रहित कोई भी वस्तु नहीं है। गौतम ने कहा है–"व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थाः–न्या, सू. २।२।६६।" निर्गुण मानने पर निरालम्बकी उपासना भी सम्भव नहीं है–"रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब मन चक्रत धावे। सब विधि अगम विचारहि तातें 'सूर' सगुन लीला पद गावै।

गुण के अत्यन्ताभाव के अर्थ में निर्गुण की कहीं सत्ता ही नहीं है। अतः गोपियों उद्धव से प्रश्न कर निरुत्तर कर देती हैं–"निर्गुण कौन देश के वासी? मधुकर, हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी ॥ को है जनक जननि को कहियत कौन नारि को दासी। कैसो वरन वेष हैं कैसो केहि रस के अभिलाषी? पावैगो पुनि कियो आपनो जोरे कहैंगो गाँसी। सुनत सुनत मौन है रह्यो ठग्यो सो 'सूर' सवै मति नाशी ॥" यह प्रश्न सुनते ही ऊद्धवजी मौन होकर ठगी सी रह गये उनका सब मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया।

भ्रमर गीतकार नन्ददासजी की गोपियां इसी प्रकार ऊद्धव से प्रश्न करतीं है–जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें। बीज विना तरु जमै मोहि तुम कहो कहाँते?' प्रह्लादजी ने भगवान् से कहा है–"रूपे इमे सदसती तव वेद सृष्टे, बीजांकुरा विव न चान्यदरूपकस्य। युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वा योगेन वह्निमिवदारुषु नान्यतः स्यात् ॥ श्रीमद्भा० ब्रह्म ही जगत् का कारण (वीज) है। यदि कारण (ब्रह्म) में गुण नहीं हो तो कार्य (जगत्) में गुण कहाँ से आवेगा। क्योंकि कारण का गुण ही कार्य में अनुगत होता है। कारणाभावे कार्याभाव–वै. सू.' कहा गया है। अतः गोपियों का उक्त तात्त्विकप्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जगत् में ब्रह्म के गुणों के प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव का कारण तो प्रह्लादजी ने ही वतला दिया है–'जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत वीजम् ॥ श्रीमद्भ०॥ अत एव अनुमान एवं ध्यान (तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः–मु० ।३।१।८।' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्। का० ४।१ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।ऋ० १।२२।५) द्वारा ही ब्रह्म के गुण एवं रूपों को देख सकते हैं।

वेदों में ब्रह्म को बृहत् (महान्) युवा (श्रेष्ठ) कुमार (सुन्दर) शरीर वाला कहा है–'बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवन् ॥ऋ० १।१५५।६।' यह उनके रूपकी विशेषता–'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। माघ।' का द्योतक है।

परात्पर ब्रह्म राम के अनन्त गुण हैं–'राम अनन्त अनन्त गुण अमित कथा विस्तार।' कहा है–"असित गिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमूर्वीम्। लिखति यदि गृहित्वा शारदा सर्व कालं, तदपि तव गुणानामीशपारं न याति॥ अतः ब्रह्म सगुण है। निर्गुण का तात्पर्य लौकिक गुणों से एवं सगुण का तात्पर्य अलौकिक (दिव्य) गुणों से है।

इस विषय में मेरा एक लेख 'निर्गुण परीक्षा' शीर्षक ज. गु. श्रीरामानन्दाचार्य पत्रिका' के १९८१ तथा अमूर्त्त परीक्षा सन् १९८३ के अङ्क में प्रकाशित हैं, जो वहीं द्रष्टव्य हैं।

श्रीबिन्दुजी ने कहा है–"होगा वह निराकार निर्गुण निर्लेप निरञ्जन भी होगा। हमको दिखलायी पड़ता है, सौवार हमारी आँखों में॥" अतः निर्गुण का अर्थ गुणाभाव नहीं है प्रत्युत लौकिक गुण विलक्षण 'नित्य गुण' है। ब्रह्म नित्य गुण वाला (निर्गुण) और सत् गुणवाला (सगुण) है।

सगुण और अगुण पद गुण का विरोधी नहीं है। गुण का संयोग सगुण और गुण का विभाग (पार्थक्य) अगुण पद है। अन्यत्र गुण और गुणी में पार्थक्य तथा आधाराधेय सम्बन्ध है। परन्तु ब्रह्म में इसके विपरीत तादात्म्य। दृष्टान्त के लिये ज्ञान गुण को लें। ज्ञानाधिकरण-मात्मा के अनुसार ज्ञान गुण का आत्मा द्रव्य के साथ आधाराधेय सम्बन्ध है। परन्तु 'समवायेन नित्य ज्ञानवत्वम् परमात्मत्वम्' तथा 'समवायेन जन्यज्ञानवत्वं जीवत्वम्' भेद से जीव ज्ञान युक्त है और परमात्मा ज्ञानरूप। अतः यहाँ जीवात्मा ज्ञान युक्त (सगुण) और ज्ञान रहित (अगुण) दोनों स्थितियों में रहता है। परन्तु परमात्मा ज्ञानयुक्त (सगुण) या ज्ञान रहित (अगुण) नहीं है अपितु ज्ञानरूप (गुण) ही है। अतः वह गुण रूप से ही अभिहित है–'प्रज्ञानं ब्रह्म' इसी प्रकार रस गुण को लें 'रसना ग्राह्यो गुणो रसः' रसना से जिसका ग्रहण किया जाय वह रस है और 'पृथिवी जल वृत्तिः' के अनुसार इसका अधिकरण पृथिवी और जल है। इस प्रकार यहाँ गुण और गुणी में आधाराधेय भाव है। परन्तु ब्रह्म रस युक्त या रस रहित नहीं अपितु रस रूप है–"रसो वै सः' अतः वह रस के प्रकरण में भी न तो रस युक्त (सगुण) न रस रहित (अगुण) है, प्रत्युत रस रूप (गुण) ही है। इस प्रकार ब्रह्म का गुण स्वतन्त्र होने (द्रव्याश्रित नहीं होने) गुण स्वरूप होने से सगुण अगुण से भिन्न विशुद्ध गुण है और ब्रह्म सगुण अगुण भिन्न विशुद्ध गुण है जो निश्चित (नित्य) होनेसे निर्गुण कहा जाता है। उसके गुण का लक्षण द्रव्याश्रितत्व समाप्त हो जाने से वह द्रव्य रूप (स्वाश्रित स्वतन्त्र) है। अतः इसमें गुणत्वाभाव (द्रव्याश्रयित्वा-भाव) के कारण इसे निर्गुण का गुण निषेधपरक अर्थ भी मान लिया जाता है।

गुण को सभी नहीं जान सकते और न समझ सकते हैं–'गुणीगुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणः। ब्रह्म का सबसे बड़ा गुण प्रेम कहा गया है और उसे इस प्रेम (गुण) रूप ही मानकर कहा गया है–'प्रेम ही ईश्वर है।' यहाँ भी प्रेम गुण न होकर द्रव्य रूप है। अतः ईश्वर इस अर्थ में निर्गुण है। ब्रह्मका गुण त्रिगुणातित (अप्राकृतिक) होने से वह निर्गुण है।

* अमूर्त्तपरीक्षा *

उपनिषद् में ब्रह्म को मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों कहा गया है। इसकी संगति कैसे होगी?

कोषानुसार मूर्त्त पद के दो अर्थ होते हैं–काठिन्य और शरीर मूर्त्तिः काठिन्य काययोः अ. को. ३।३।६६ परन्तु शरीर शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते हैं–(१) "शीर्यते प्रतिक्षणमिति

शरीरम्" आत्मनो भोगायतनं शरीरम्' और (२) चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् न्या' सू. १।१।११ उक्त प्रथम अर्थ में तो ब्रह्म का मूर्त्त (शरीर) रूप नहीं बन सकता, क्योंकि ब्रह्म का शरीर न तो प्रतिक्षण क्षीयमान है और न ब्रह्म को कर्मफल भोग की अपेक्षा है। किन्तु द्वितीय अर्थ में तो ब्रह्म का मूर्त्त रूप बनता ही है, क्योंकि ब्रह्म इच्छा ज्ञान के साथ ही प्रयत्न (चेष्टा) का भी आश्रय है और जगत का कर्त्ता पालक-संहरता है। अतः चेष्टा का आश्रय होने से उसका शरीरत्व एवं मूर्त्तत्व (मूर्तत्वं च क्रियाश्रयत्वम्) बनता ही है। अतः प्रथम लक्षण के अनुसार वह अमूर्त्त तथा द्वितीय लक्षण के अनुसार मूर्त्त अर्थात् मूर्त्त अमूर्त्त दोनों ही सिद्ध है।

परिच्छिन्न परिमाणवाले पदार्थ मूर्त्त हैं-"परिच्छिन्नपरिमाणवत्वं मूर्त्तत्वम्। "आकाश भी मूर्त्त है क्योंकि यह परिमाण वाला है (मान व्यवहार साधारण कारणं परिमाणम्। नव द्रव्य वृत्तिः-त.सं.)। पुनः ब्रह्म के अष्टमूर्त्तियों में आकाश को भी मूर्त्त कहा गया है-"अथाग्नी रविरिन्दुश्च भूमिरापः प्रभञ्जनः। यजमानः खमष्टौ च महादेवस्य मूर्त्तयः। ब्रह्मको 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' कहा गया है। अतः ब्रह्म का भी मूर्त्त होना प्रमाणित है। परन्तु ब्रह्म की मूर्त्ति सावयव नहीं है। अतः वह अमूर्त्त है।

इस प्रकार ब्रह्म को अमूर्त्त एवं मूर्त्त दोनों कहना सर्वथा प्रामाणिक है। इसमें कोई बिरोध या व्याघात नहीं है। तभी वेदों में भी इन्हें मूर्त्त तथा अमूर्त्त दोनों ही कहा गया है। अमूर्त्त पद में अ पद अनुकम्पार्थक भी हो सकता है-"अशब्द स्यादभावेऽपि स्वल्पार्थप्रतिषेधयोः। अनुकम्पायाञ्च तथा वासुदेवेत्वनव्ययम्॥ मे० अतः अमूर्त्त का अर्थ अनुकम्पामूर्त्त एवं वासुदेवमूर्त्त भी है।

❀

निर्विकल्प निर्णय

निः+वि+कल्प=निर्विकल्प। निः=नहीं (निर्निश्चयनिषेधयोः अ. को. ३।३।२५३) वि=विविध अथवा विरुद्ध+कल्प=सामर्थ्य वा शक्ति (कृपूसामर्थ्ये-भ्वा०)। अथवा निः+विकल्पः=निर्विकल्प। निः=नहीं+विकल्पः="नानाकल्पो विकल्पः। विविधो वा कल्पो विकल्पः न्या. भा. १।१।२०॥" अथवा 'विकल्पः पुंसि भ्रान्तौ च कल्पने-मेदिनी।' 'उपमायां विकल्पे वा-अ. को. ३।३।२५० के अनुसार 'वा' पद का प्रयोग विकल्प अर्थ के बोधन में होता है-"यवैर्व्रीहि वा यजेत।' पाश्चात्य निगमन तर्क शास्त्र के अनुसार सम्बन्ध के अनुकूल वाक्य दो प्रकार के होते हैं-१निरपेक्ष और २ सापेक्ष पुनः सापेक्ष वाक्य के दो भेद होते है (क) हेतुफलाश्रित और (ख) वैकल्पिक यह वैकल्पिक वाक्य 'या' वा' अथवा 'अथवा (याता)'...अथवा (यह) आदि सम्बन्ध सूचक पदों से जुड़ा रहता है। पुनः यह वैकल्पिक वाक्य दो प्रकार का होता है। प्रथम-वह जिनके दोनों विकल्प परस्पर व्याघातक एतावता पारस्परिक वहिष्कारक पद होते हैं इसमें एक की सत्यता दूसरे की असत्यता प्रमाणित करती है तथा एक की असत्यता दूसरे की सत्यता। द्वितीय-वह जिनके दोनों विकल्प परस्पर व्याघातक एतावता पारस्परिक वहिष्कारक पद नहीं होते हैं। इनमें दोनों विकल्प साथ साथ सत्य वा असत्य हो सकते हैं। प्रथम का उदाहरण है-'मनुष्य या तो नाशवान् है या अमर द्वितीय का उदाहरण है-मोहन या तो मूर्ख है या दुष्ट। संस्कृत व्याकरण में इन्हें (वा को) वियोजक अव्यय की संज्ञा दी गयी है और इन्हें विरोध सूचक सम्बन्ध का प्रतिपादक कहा गया है।

इस प्रकार निश्चय अथवा ऐकान्तिक का अभाव विकल्प में होता है। यह ठूठा पेड़ है अथवा मनुष्य ? यह मृगजल है वा जल ? इस प्रकार का अनिश्चय विकल्प में रहता है। बस से पाटलिपुत्र जायें वा ट्रेन से इस प्रकार का अनिश्चय रहता है। अतः वैकल्पिक ज्ञान अनिश्चयात्मक और अनेकात्मक होता है।

न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यान ने कहा–'नाना कल्पो विकल्प विविधो वा कल्पो विकल्पः–न्या. सू. भा. १।२।२० अतः निर्विकल्प को अर्थ हुआ निश्चित एक विध ज्ञान। हम इसी ऐकान्तिक अर्थ में निश्चित ज्ञान को निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं और भगवान् को निर्विकल्प तरु कहते हैं। क्योंकि भगवान् के सम्बन्ध में अनिश्चय नहीं है। भ्रम रहित एक कोटिक ज्ञान निर्विकल्प है और द्वि कोटिक अथवा चतुष्कोटि ज्ञान सविकल्प है। ऐसा ही व्याकरण एवं कोश से स्वशब्दात् निर्विकल्प पद का निर्णय होता है।

परन्तु निर्विकल्प का नवीन अर्थ की कल्पना की गयी है। यद्यपि न्यायसूत्र में निर्विकल्प और सविकल्प पदों की कल्पना नहीं है। तथापि बाद के नैयायिकों ने वहाँ अपनी कल्पना घुसाई है। फिर भी इस सम्बन्ध में इनमें काफी मतभेद है। न्यायसूत्र के प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण में लिखा है–'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्–न्या.सू. १।१।४।' इसमें 'निर्विकल्प' पद पठित नहीं। फिर भी कुछ लोग इस सूत्र में पठित 'अव्यपदेश्यम्' पद से निर्विकल्प अर्थ लगाते हैं। यह स्मरणीय है कि बाद के नैयायिकों ने इस सूत्र में पठित 'अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्' इस अंश को प्रत्यक्ष से हटा कर प्रत्यक्ष का लक्षण 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम् (त.सं)' किया है। अतः 'अव्यपदेश्यम्' पद व्यर्थ पड़ जाता है। जो कुछ भी हो 'अव्यपदेश्यम्' का अर्थ निर्विकल्पम्' नहीं है। 'अव्यपदेश्यम्' पद 'अ+वि+अपदेश्यम्' के योग से बना हैं। 'अपदेश' पद का कोशानुसार तीन अर्थ होता है–१ व्याज, २ लक्ष्य और ३ निमित्त–'पदे लक्ष्ये निमित्तेऽपदेशः स्यात्–अ. को. ३।३।२१६।' निमित्त कहते हैं 'करण' को अनुमान का करण 'व्याप्तिज्ञान' होता है। उपमान का कारण 'सादृश्यज्ञान होता है। शब्द प्रमाण का करण 'पदज्ञान होता है। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का करण कोई अन्यज्ञान नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है–'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् जिस ज्ञान का कोई 'करण' नहीं हो वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ही अन्य ज्ञानों का करण है–'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षत्वेन सम्मतम्–प्रमाण दीपिका९। इसी 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् का बोधक 'अव्यपदेश्य पद है, जो स्व अर्थ एवं प्रमाण लक्षण से सिद्ध है। अतः 'अव्यपदेश्य' पद से निर्विकल्प की सिद्धि करना भ्रान्त है।

'निर्विकल्प' पद का लक्षण दिया जाता है–नाम जात्यादि योजना रहितं निर्विकल्पकम्। 'बालमूकादि विज्ञानसदृशं निर्बिकल्पकम्'। परन्तु यह कथन भ्रान्त है। सर्वप्रथम ऐसा मानने पर केवलान्वयीं व्याप्ति–'व्याप्तिमानन्वयेनैव द्वितीयोऽभिमतः खलु। यथा घटोऽभिधेयोऽस्ति प्रमेयत्वात् घटादिवत् ॥भा.र.।' नहीं बनेगी क्योंकि केवलान्वयी विपक्ष रहित होता है और 'बालक मूकादि विज्ञानसदृशं' को नाम जात्यादि योजना रहित माना जाय तो यह विपक्ष उपस्थित होने पर केवलान्वयीं अनुमान नहीं बनेगा। यहाँ व्यतिरेक भी हो जायेगा जो अभिधेय नहीं है वह प्रमेय है, जैसे बालकमूकादि का ज्ञान। अतः केवलान्वयी का लोप हो जायेगा।

निर्विकल्पक सम्बन्ध में नैयायिकों में विवाद है। सर्वश्रेष्ठ नैयायिक नव्यन्याय के स्थापक श्रीगङ्गेशोमाध्यायजी नामजात्यादि योजना रहित ज्ञान को प्रमा नहीं मानते हैं—

"अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् । तत्प्रमा नप्रमा नाऽपि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् । प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाही तत् ॥

प्रकारता (विशेषणता) आदि घटित ज्ञान में ही प्रमात्व रहता है, निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारतादि रहित है। अतः वह प्रमा नहीं है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि श्रीगंगेशोपाध्यायजी ने निर्विकल्पक ज्ञान को न तो प्रमा माना है और न अप्रमा ही। प्रमा और अप्रमा से विलक्षण कहा है। परन्तु यह न्याय सिद्धान्त के ही विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है। उदयनाचार्यजी ने न्याय कुसुमाञ्जलि में कहा है–
"परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः। नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्र विरोधतः ॥न्या.कु. ३।८

अतः 'प्रमा एवं 'अप्रमा को परस्पर विरुद्ध होने से प्रमा अप्रमा विलक्षण प्रकारान्तर की स्थिति नहीं हो सकती। प्रमा और अप्रमा के परस्पर विरोध के कारण जो प्रमा नहीं है वह अवश्य ही अप्रमा है और जो अप्रमा नहीं है वह अवश्य ही प्रमा है। प्रमा अप्रमा विलक्षण अन्य तृतीय प्रकार सम्भव नहीं है। प्रमा अप्रमा इन दोनों परस्पर विरुद्ध के विरोध के कारण दोनों की एकता अर्थात् उभयात्मकत्व भी संभव नहीं है। अतः कहा हैं 'उक्ति मात्र विरोधतः। इस प्रकार गंगेशोपाध्यायजी का प्रमा अप्रमा विलक्षण कहना ठीक नहीं है।

श्रीविश्वनाथ पञ्चाननजी ने लिखा है–"भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा। परन्तु तथा कथित निर्विकल्पक ज्ञान (बालकमूक विज्ञान) को भ्रम भिन्न कैसे कहा जा सकता है। मृग जल जिस प्रकार प्रौढ को जलवत् भासता है, उसी प्रकार वह बालक मूक को भी भासता है। पिपासा बालक और मूक को भी होती है। अतः मृगजल देखकर पिपासित व्यक्ति चाहे वह बाल हो या प्रौढ सभों को पीने की प्रवृत्ति होती है। तब कैसे उसे भ्रम भिन्न कहा जा सकता है। अतः जो प्रमा और अप्रमा प्रौढ (नामजात्यादि योजना सहित ज्ञान वाले) को है वही बालक मूक को भी। अतः बाल–मूक के विज्ञान को भ्रमभिन्न कहना अव्याप्त है एतावता भ्रान्त है।

मध्वाचार्य (द्वैतवेदान्त), वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैत वेदान्त) एवं भर्तृहरि (वैयाकरण) प्रभृति ज्ञान की उत्पत्ति क्रम में विशेष विशेषण शून्य कोई ज्ञान स्वीकृत नहीं करते हैं। प्रत्येक ज्ञान में किसी प्रकार के विशेष का भान अवश्य रहता है। बालकादि के ज्ञान में भी आकार (रूप) आदि विशेष्य अवश्य रहता है। अतः सभी ज्ञान सविकल्पक है—

"न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

विना संज्ञा का कोई ज्ञान नहीं होता। जिसके द्वारा सम्यक् (ठीक) रूप से ज्ञान हो वही संज्ञा कही जाती है और जिसके द्वारा किसी विषय वस्तु का प्रकाशन हो वही नाम कहा जाता है। अतः विना संज्ञा या नाम के वस्तुज्ञान असम्भव है। जितने अर्थ हैं उनमें अभेद से संज्ञा (उनका ज्ञान) अभेद से वर्तमान है। बालक किसी पक्षी को आकाश में उड़ते हुये देखता है, तो पक्षी का रूप, उसके उड़ने की क्रिया, उसका इतर पदार्थों से भेद तथा उसका अधिकरण आदि सभी का ज्ञान उसको होता है। इस प्रकार पक्ष रूप से 'पक्षी' आकाश में उड़ने से 'विहग' आदि उन अर्थों में रहने वाली संज्ञाओं का भी उन्हें अर्थतः ज्ञान होता ही है। इसी अर्थतः ज्ञान का मातृभाषा के शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। अतः उसका शब्दतः ज्ञान स्वतः हो जाता है। इस प्रकार कोई भी ज्ञान निर्विकल्पक (नाम जात्यादि योजना रहित) नहीं होता। प्रत्येक

ज्ञान में विशेषता और प्रकारता रहता ही है। निर्विशेष (अव्यावर्तक) कोई भी ज्ञान नहीं होता। उसकी अर्थतः संज्ञा, जाति (सामान्य), विशेष (इतरभेद) आदि का ज्ञान होता ही है। अतः सभी ज्ञान सविकल्प हैं। बालक और मूक की अनुभूति अज्ञात होने से वह दृष्टान्तरूप में नहीं दिया जा सकता। क्योंकि वह अनुभूति प्रकार के निश्चय का अभाव है। हम यह नहीं कह सकते कि उसको निर्विकल्प प्रकारक ज्ञान होता है। उसकी अनुभूति अज्ञात होने से वहाँ निर्णय स्थगन है। अतः उसे दृष्टान्त रूप में नहीं दिया जा सकता। बालक जन्म लेते ही कहाँ, कहाँ प्रश्न करने लगता है। अतः कहा जाता है कि मनुष्य जन्मतः तर्कशील प्राणी है। वह मनोनुकूल वस्तु को देखकर प्रसन्नमुख हो जाता है तथा उसको लेने के लिये प्रयत्न करता है। पुनः मन के प्रतिकूल वस्तु को देखकर भयभीत हो जाता है, और हटने का प्रयत्न करता हैं। अतः उसके ज्ञान में भी भेद (विशेष) वा विकल्प है। मनुजी ने कहा है—

"आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्र वक्त्र विकारेण लक्ष्यतेन्तर्गतं मनः॥"

न्याय सूत्रकार गौतम ने ही कहा है—

"पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोक संप्रतिपत्तेः न्या. सू. ३।१।१९॥"

इसकी व्याख्या न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका में वाचस्पतिमिश्र जी ने लिखा है—"अभिप्रेत-विषयक प्रार्थना प्राप्तौ सुखानुभवः हर्षः। अनिष्ट विषय साधनोपनिपाते तज्जिहासोर्हानाशक्यता भयम्। इष्ट विषय योगे सति तत्प्राप्त्यशक्यप्रार्थना शोकः। तदनुभवः सम्प्रतिपत्तिः। प्रत्यक्ष बुद्धि निरोधे तदनुसन्धानविषयः स्मृतिः। अनुबन्धो भावनास्मृति हेतुः संस्कारः।

नवजात बालकों के मुखपर जो हर्ष, भय, शोक के लक्षण देखे जाते हैं, उसका कारण उनके पूर्वजन्म की स्मृति है। तब बालक मूक के ज्ञान को निर्विकल्पक कैसे कहा जा सकता है?

अतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त मानरत्नावली में कथन सत्य है–"नैवावभासकं ज्ञानमविशिष्टस्य वस्तुनः ॥१।२४॥"

तर्कसंग्रहकार ने केवलान्वयि के प्रकरण में लिखा है—

"अन्वयमात्र व्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् इति। अत्र प्रमेयत्वा-भिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।"

जब सभी प्रमेय अभिधेय हैं, तब निर्विकल्पक प्रमा कैसे हुआ? अतः न्यायसिद्धान्त से निर्विकल्पक ज्ञान मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह सभी प्रमेय को अभिधेय मानता है।

संज्ञा (संज्ञास्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थ सूचना–अ. को. ३।३।३३) या नाम (नाम प्राकाश्य संभाव्य क्रोधोपगमकुत्सने–अ.को. ३।३।२५२) रहित कोई भी प्रमेय नहीं है–ऐसो वैयाकरणों की मान्यता युक्ति पूर्ण है।

निर्विकल्प ज्ञान मानने पर बौद्ध दार्शनिक का प्रत्यक्ष लक्षण "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्या-द्यसंयुतम्–प्रमाणसमुच्चय॥" स्वीकार होता है, जो इष्ट नहीं है। पुनः मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, भर्तृहरि प्रभृति वेदान्तियों, एवं वैयाकरणों से विरोध होता है। पुनः वेदमन्त्रों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ऋषियों ने अन्तःकरण में एकाग्र होकर वेदमन्त्रों का दर्शन किया–"शब्दार्थ प्रत्ययाना-मितरेतराभ्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।" वह नहीं बनेगा। आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र के 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' सूत्र के प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ श्रुति (वेद) "प्रामाण्ये

स्वातन्त्र्यात्प्रत्यक्षं श्रुतिः श्रुत्यपेक्षप्रामाण्यकत्वाच्चानुमानं स्मृतिः" (आनन्दभाष्यम् १।३।२८) इत्यादिरूप से कहा है। वह नहीं बनेगा। वेद ऋषियों को ध्यान में अलौकिक तत्त्वों का ज्ञान हुआ वह निर्विकल्प नहीं था, शाब्दिक था। शब्द के द्वारा अथवा शब्द सहित एतावता सविकल्प था। वेद सविकल्प है। निर्विकल्प नहीं। अतः निर्विकल्प ज्ञान मानना वेद और शास्त्रों के विपरीत है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

卐

❀ ईश्वर की सत्ता और सर्वज्ञता ❀

[ले० वैदेहीकान्तशरण]

ईश्वर की सत्ता एवं सर्वज्ञता के प्रमाण में न्यायाचार्य श्रीउदयनाचार्य ने अपने सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय कुसुमाञ्जलि के पाँचवे स्तवक के प्रारम्भ में निम्नलिखित कारिका लिखी है। जिनमें आठ हेतुओं से ईश्वर की सत्ता एवं सर्वज्ञता को प्रमाणित किया गया है। इस कारिका की उन्होंने स्वयं द्विविध व्याख्या की है। प्रथम सांख्य मत [ईश्वरासिद्धेः] के समाधानार्थ और द्वितीय मीमांसा मत [प्रमाणाभावात्] के समाधानार्थ इस प्रकार सम्पूर्ण पञ्चम स्तवक के प्रथम कारिका में ईश्वर की सत्ता और सर्वज्ञता प्रतिपादक युक्तियों का निरूपण, द्वितीय से पञ्चम कारिकाओं में उक्त युक्तियों में संभावित दोषों का निराकरण, षष्ठ से षोडश कारिकाओं में उन युक्तियों की मीमांसक पक्ष में द्वितीय प्रकार की व्याख्या की है।

उक्तकारिका को उद्धृत कर उसकी पृथक् व्याख्या यहाँ अपने मत से की जा रही है, जिनमें दोनों प्रतिपाद्य धर्मो-१ सत्ता और २ सर्वज्ञता की पृथक् पृथक् सिद्धि की जायेगी।

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥
न्या० कु० ५।१॥"

व्याख्या—साध्यो विश्वविदव्ययः-साध्यो [सिद्ध (प्रमाणित) करने का विषय है] विश्व [अखिल] विद् ['सत्ता' और 'ज्ञ (ज्ञाता)'-सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति०] अव्ययः [अविनाशी, नित्य]। इस 'साध्योविश्वविदव्ययः' विधेय वाक्य में प्रतिपाद्य विषय ईश्वर के स्वरूप 'नित्य सर्वज्ञ' और सर्वसत्ता' को साध्य [साध संसिद्धौ] सम्यक् प्रकार से प्रमाणित करने का विषय वा सम्यक् सिद्ध बतलाया गया है। इसके साधन रूप में अष्ट विध युक्तियों का प्रतिपादन किया गया है। जो इस प्रकार है—

[१] कार्यात्—डु कृञ् करणे (तना०) धातु में ण्यत् प्रत्यय लगाने से कार्य शब्द निषन्न होता है और अर्थ होता है-'क्रिया का विषय' या कर्म [कर्म क्रिया-अ. को. ३।२।१]। क्रिया द्वारा जो किया जाता है एवं क्रिया के करण व्यापार से जो उत्पन्न होता है वह कार्य है [परसमवेत क्रियाजन्यफलाश्रयत्वंकर्मत्वम]। क्रिया के मूल को धातु कहते हैं एवं फल तथा व्यापार धात्वर्थ है और उसके आश्रय (फलाश्रय) कर्म और व्यापाराश्रय कर्ता यह तिङ् (आख्यातार्थ) है-'फलव्यापारयोधातुः आश्रये तु तिङः स्मृतः।' क्रिया का उत्पादक कारक होता है [करोति क्रियां जनयतीति कारकम्] अथवा क्रिया के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसको कारक कहते हैं

[क्रियान्वयी कारकम्] जो छः होते हैं–'कर्त्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरण इत्याहुः कारकाणि षट् ।।" [कृ+ण्वुल्=कारकः]। इस प्रकार जगत् की कार्य होने पर इस जगत् क्रिया के उत्पादक उक्त कर्त्तादि छः कारकों की सिद्धि स्वतः होती है। जिनमें सर्व प्रथम और सर्वप्रधान कारक कर्त्ता [क्रिया सम्पादकः कर्त्ता] की सिद्धि तो सर्वप्रथम ही होती है। जगत् कार्य (शिल्प) है। अतः इसके कारु [कृ+उण्=कोरुः=शिल्पी] अभियन्ता [इञ्जिनियर] की सिद्धि स्वतः होती है। यह विश्व एक यान्त्रिक रचना है और इसकी नियमित संचालन व्यवस्था है अतः इसके रचयिता एवं नियामक [व्यवस्थापक] की सिद्धि स्वतः होती है। यह व्याकरण शास्त्रानुसार 'कार्यात्' पद से स्वशब्दात् जगत् कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि होती है। वेदान्त दर्शन ने भी 'स्वशब्दात्'–ब्र. सू. १।३।१ एवं न्यायदर्शन ने भी 'उक्तिमात्र–न्या. कु. ३।८ को हेतु माना है। न्याय दर्शन भी कर्तृत्व के लिये कृति [प्रयत्न] को मानते हैं–'सकर्तृकत्वं च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा कृतिमज्जन्यत्वम्', 'कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोजकत्वेसति सकलकारकप्रयोतृत्वलक्षणं ज्ञान चिकीर्षा प्रयत्नाधारत्वम्'। एवं नैयायिकयत्न [कृति] कोही आख्यातार्थ मानते है। उनका कथन है कि आख्यात की व्याख्या सर्वदा 'कृत' धातुसे की जाती है 'पचति; पदके दो भाग हैं –एक प्रकृति या धातु तथा दूसरा प्रत्यय [तिवादि] इसमें पचति पद की व्याख्या 'पाकं करोति' पर्याय से की जाती है। पच धातु की व्याख्या 'पाकं' पद से एवं तिप् [ति] की व्याख्या 'करोति' पद से की जाती है। अतः सर्वत्र उपरोक्त 'कार्यात्' शब्द साधक डुकृञ् धातु का अर्थ कृति (यत्न) ही आख्यातार्थ है। इस प्रकार भी उपरोक्त कार्यात् हेतु से उसका यत्नकर्ता (कारक) का सहज अनुमान होता है।

वैशेषिक दर्शनानुसार बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है और कार्य के अभाव में कर्ता का अभाव नहीं होता–'कारणाऽभावात्कार्याऽभावः। वै. सू. १।२।१', 'न तु कार्याऽभावात्कारणाऽभावः ।। वै. सू. २।१।२।' कार्यकारण का लक्षण एवं प्रकार इस प्रकार कहा गया है–'कार्यं प्रागभावप्रतियोगिः।' 'कार्य नियत पूर्व वृत्तिकारणम्।' 'कारणं त्रिविधम्–समवाय्यसमवायि निमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य। पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिनर्थे समवेतत्त्वे सति कारणं समवायि कारणम्। यथा तन्तु संयोगः पटस्य। तन्तु रूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।' अतः वैशेषिक दर्शनानुसार 'कार्यात्' हेतु से इसका कारण रूप ईश्वर की सिद्धि होती है।

न्याय दर्शन के अनुसार 'कार्यात्' हेतु से अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है–"क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्।' न च तत्कर्तृकत्वमस्मदादीनां सम्भवति। सकर्तृकत्वं च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा कृतिमज्जन्यत्वात्।' यह अखिल विश्व [पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि विविध प्रकार के वृक्ष, जीव, स्वर्णादि धातु, अन्न अग्नि, वायु, जलादि जितने पदार्थ हैं, सभी] कार्य हैं, अतएव इसका कर्ता होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि बिना कर्ता के किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। इस विशाल अनन्त विज्ञान पूर्ण विश्व का निर्माता (कर्ता) हमलोगों में से कोई भी जीव नहीं हो सकता है। क्योंकि कर्ता का लक्षण है–'उपादान गोचर (कारण विषयक) अपरोक्ष ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) चिकीर्षा (करने की इच्छा) और कृति (कार्यानुकूल व्यापार) से युक्त।' हमलोगों में किसी भी जीव में विश्व कर्तृत्व का यह लक्षण सम्भव नहीं है। अतः इसका कर्त्ता ईश्वर है। इस प्रकार उक्त 'कार्यात्' हेतु से ईश्वर की सत्ता की सिद्धि होती है।

अब इसी हेतु से ईश्वर की सर्वज्ञता की भी सिद्धि होती है इस जगत् निर्माण कार्य में जो अद्भुत कारीगरी (शिल्प कलाकौशल–सौन्दर्य–विज्ञानादि) तथा सुव्यवस्था (संचालन–नियमन–प्रयोजन–रक्षण–पोषणादि) आदि कार्य हैं उसको देखने से इसके निर्माता तथा व्यवस्थापक की असीम बुद्धि का अद्भुत चमत्कार का पता चलता है एवं इससे उसकी सर्वज्ञता की सिद्धि होती है [वह सर्वव्यापी परम प्रतापी जगन्नियन्ता छुपा नहीं है। हरेक पत्ता उसी कीं गतिसे साचेत हो सिर हिला रहा है]

वेद भगवान् भी यही कहते हैं–'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानिपस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ऋ० १।२२।१९=शु. य. ६।४, १३।३३ साम० १६७१, अथर्व० ७।२६।६॥'–हे लोगों तुमलोग सर्वव्यापक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वर के अद्भुत कार्यों और लीलाओं को देखो। [केशव कहिं न जात का कहिए। देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए॥ कोउ कह सत्य झूठ कह कोउ, युगल प्रबल कोउ मानै।'] वाली विचित्र अचिन्त्य अद्भुत अनिर्वचनीय रचना एवं कलाकौशलको देखकर मानव बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। ऐसे जगत् कार्य के अवलोकन करने (कर्माणि पश्यत) का उपदेश देते हुये वेद आगे कहते हैं कि यह जगत् कार्य अव्यवस्थित वा उच्छृङ्खल नहीं है प्रत्युत नियमों से सुबद्ध और नियमित गति से यन्त्रवत् संचालित तथा सुव्यवस्थित है। इसके यान्त्रिकव्यवस्था, बौद्धिक व्यवस्था तथा नैतिक व्यवस्था उसकी सर्वज्ञता का साधक है (यतो व्रतानि पस्पशे)। फिर आगे कहते हैं कि वह हितचिन्तक शासक (युज्यः सखा) है। अतः इस विश्व के कार्यों का अवलोकन करने पर कण कण में ईश्वर की सर्वज्ञता का अवलोकन करते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के अनुसार एक परमाणुकी ठीक वैसे ही रचना है जैसा कि ब्रह्माण्ड की। जैसे ब्रह्माण्ड के केन्द्र में सूर्य है और उसके चारो ओर उपग्रह चक्कर काटते (प्रदक्षिणा करते) रहते हैं, ठीक उसी प्रकार परमाणुओं के केन्द्र में भी प्रोटीन रहते हैं तथा उसके चारों ओर इलेक्ट्रोन चक्कर काटते हैं। अतः वेद विज्ञान का कथन–'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' आधुनिक विज्ञान से भी सिद्ध होता है।

न्याय कुसुमाञ्जलि कारने ईश्वर के जगत्कार्य का इसप्रकार वर्णन किया है–'कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात्संहरन्, हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत्क्रीडति। तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं, विश्वासैकभुवं शिवं प्रतिनमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥न्या. कु. २।४॥

इसी जगत्कर्तृत्व के विषय में प्रार्थना की जातीहै–'जिसने सूरज चाँद बनाया। जिसने तारों को चमकाया। जिसने सारा जगत बनाया। जिसने रची हमारी काया॥ वह है सब दुनियां से आला। उसका है सब काम निराला॥ उस ईश्वर को सदा मनाओ। उसे प्रेम से सीस झुकाओ॥'

उपरोक्त 'कार्यात्' हेतु के प्रकरण में मीमांसक कार्य (कर्म) को ही फल प्रदाता एतावता ईश्वरवत् मानते हैं। अतः श्रीहनुमन्नाटक के मङ्गल श्लोक में कहा गया है–'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्धमिति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः। अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मेतिमीमांसकाः सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥१।३॥' परन्तु न्याय दर्शन के मत में कर्म स्वयं फल प्रदाता नहीं है प्रत्युत ईश्वर कर्मफल प्रदाता है 'ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात् न्या. सू. ४।१।१९।' अतः इस कार्यात् हेतु से मीमांसक मत में कर्म ईश्वर है और न्यायमत में कर्मफल प्रदाता ईश्वर है–ऐसा सिद्ध होता है।

उक्त 'कार्यात्' हेतु के प्रकरण में ही ईश्वर का पर्याय नाम विष्णु सहस्त्रनाम में इस प्रकार पठित है-'उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः । करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ॥ श्लो० ५४॥' 'प्रपञ्चोत्पत्त्युपादानकारणत्वात् उद्भवः, उद्गतो भवात्संसारादिति वा । सर्गकाले प्रकृतिं पुरुषं च प्रविश्य क्षोभयामासेति क्षोभणः । प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । प्रविश्य क्षोभयामास सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ इति विष्णु पुराणे १।२।२९। यतो दीव्यति क्रीडति सर्गादिभिः, विजिगीषतेऽसुरादीन् व्यवहरति सर्वभूतेषु, आत्मतयाद्योतते, स्तूयते स्तुत्यैः सर्वत्रगच्छति तस्माद्देवः 'एकोदेवः-श्वे० उ० ६।११' इति मन्त्रवर्णात् । श्री विभूतिर्यस्योदरान्तरे जगद्रूपा यस्य गर्भेस्थिताः स श्रीगर्भः । परमश्चासावीशनशीलश्चेति परमेश्वरः । 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । गी. १३।२७।' इति वचनात् । जगदुत्पत्तौ साधकतमं करणम् । उपादानं निमित्तं च कारणम् । कर्ता स्वतन्त्रः । विचित्रं भुवनं क्रियते इति विकर्ता स एव भगवान् विष्णुः ॥ शाङ्करभाष्य ॥"

अतः अन्त में उसे विश्वेश्वर कहा गया है-'विश्वेश्वरः देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ॥ श्लो० १४२॥" एवं गरुडपुराण में कहा गया है-'आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया । तथा चेद् विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात् ॥पू. २३०।५०।'

उक्त 'कार्यात्' हेतु के प्रकरण में जो उदयनाचार्यजी ने कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं ... कुर्वन् जगत् क्रीडति-न्या. कु. २।४ कहा है वह श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के अनुसार जगत् क्रीडा 'रमु क्रीडायाम्' धातु से निष्पन्न राम में ही संगत है । अतः इससे परब्रह्म श्रीराम की ही सत्ता एवं सर्वज्ञता सिद्ध होती है तथा उन्हें जगल्लीलाबीज कहा गया है । भगवान् का नाम इसीलिये-'करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनोगुहः-वि. स. श्लो० २४' कहा गया है ।

[२] आयोजनात्=आ समन्ताभावेन पूर्वक युजिर्योगे धातु के योग में ल्युट् प्रत्यय से आयोजन शब्द बनता है। अर्थ होता है पूर्ण रूप या सम्यक्रूप से एकत्र स्थित करने या जोडने का कार्य । इस प्रकार रचना प्रकरण में आयोजन का अर्थ है अंशो को जोडकर इच्छित वस्तु को बनाना । ईश्वर विश्व अभियन्ता है । यह विश्व रचना उसकी असीम यान्त्रिक बुद्धि का प्रमाण है । यहाँ आयोजन शब्द से सांख्यमत में प्रकृति (जड) एवं पुरुष (चेतन-जीव) का संयोग संसार है । परन्तु प्रकृति और पुरुष के संयोग के लिये ईश्वर की आवश्यकता है । क्यों कि सांख्यमत में पुरुष निरीह है और प्रकृति जड है । अतः इन दोनों का मिलन स्वयं नहीं हो सकता । अतः सेश्वर सांख्य मत में इन दोनों का संयोजक वा आयोजन करने वाला ईश्वर है। इसी को गीता में 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भंदधाम्यहम् । तथा 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिःसूयते सचराचरम् ।' कहा गया है । निरीश्वर सांख्यमत भी प्रकृति के तीनों (सत्व-रज-तम) गुणों को परस्पर विरोधी मानते हैं । तब ये तीनों परस्पर विरोधी होने से मिलकर एककार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते । इस आपत्ति के समाधान में उनका कहना है कि बत्ती, तेल और अग्नि परस्पर विरुद्ध होने पर भी अन्धकार नाश द्वारा प्रकाशरूप कार्य के लिये तीनों आपस में विरोध छोडकर पदार्थों को प्रकाशित करते हैं (प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः)। परन्तु प्रदीप में भी तेल अग्नि-बत्ती का संयोग कराने वाला चेतन की आवश्यकता है। अतः प्रकृति के तीनों गुणों को प्रयोजनानुसार कार्यसम्पादनार्थ संयोग कराने वाले ईश्वर की सिद्धि होती है ।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां नपदार्थानाम्-वै. सू. १।१।४' एवं 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगत्मा मन इति द्रव्याणि ॥

वै. सू. १।१।५।' एवं 'रूपरसगन्धस्पर्शास्संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोग विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदु:खे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।।वै. सू. १।१।६।' आदि का संयोजक ईश्वर है ।

न्याय दर्शन के अनुसार 'आत्माशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।। न्या. सू. १।१९।।" का संयोजक ईश्वर है । उपरोक्त प्रथम हेतु 'कार्यत्वात्' से ईश्वर के जगत् के कारण सामान्य का निरूपण हुआ है और इस द्वितीय हेतु 'आयोजनात्' से उसका कारण प्रकार 'निमित्त कारणत्व' का निरूपण है ।

वेद मत में साकार ईश्वर सृष्टि कर्ता है–

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।
ऋ. १०।८१।३१=शु.य. १७।१९=अथ, १३।२।९६

न्याय दर्शन ईश्वर को कुम्भकार की तरह प्रयोजक कर्त्ता मानते हैं जो उपादानों से रचना करता है । वह निमित्तकारण है, उत्पादक कर्त्ता या उपादान कारण नहीं । परन्तु वेद मत में वह अचित् शरीरी होने के कारण (यस्य पृथिवी शरीरम्) वह उपादान कारण और उत्पादक कर्त्ता भी है । अतः वह अपने संकल्प (इच्छा) से ही अपने अचित् शरीर (जगत्) को इच्छित कार्य रूप में निर्मित कर लेता है । अतः वह निमित्त (आयोजक वा प्रयोजक) कर्ता भी है । इस प्रकार इस हेतु से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती हैं । पुनः इस आयोजन कार्य की विशेषताओं के अवलोशन से उसकी सर्वज्ञता भी सिद्ध होती है । सर्वज्ञ के बिना ऐसी विचित्र रचना का आयोजन कोई नहीं कर सकता ।

[३] धृत्यादेः=धृञ् धारणे धातु से निष्पन्न धृति शब्दका अर्थ धारण करने का विषय है । यह हेतु विश्वके अधिकरण [आधारोऽधिकरणम्] का ज्ञापक है । अधिकरण के चार प्रकार बतलाये गये हैं–१ औपश्लेषिक [जिस आधार के साथ आधेय का भौतिक संश्लेष हो, यथा–कटे आस्ते काकः], २ वैषयिक [जिस आधार के साथ आधेय का बौद्धिक संश्लेष हो, जसे मोक्षे इच्छा अस्ति], ३ व्याप्य व्यापक [जिस आधार के साथ आधेय का व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध हो, जैसे तिलेषुतैलम्] ४ सामीप्यक [जिस आधार के साथ आधेय का सामीप्य है, जैसे गंगायां घोषो वसति] । आधेय जगत् का आधार ईश्वर के साथ सभी प्रकार का अधिकरणत्व संभव हो सकता है ।

न्यायमत में धृति का अर्थ 'धृतिश्च गुरुत्ववतां पतनाभावः । धृतिधारणं किया गया है और यहाँ इस तृतीय हेतु से 'ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्त्वात्, वियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत् ।

मीमांसक मत में 'धारणात्धर्म इत्याहुः' के अनुसार इस विश्व (जगत्) को धारण करने वाला आधार (अधिकरण) धर्म है । परन्तु न्यायमत में इस धर्म को भी धारण करने वाला अधिकरण ईश्वर ही है–'अतो धर्माणि धारयन्–ऋ० ३।२२।१८' अथर्व वेद में भी धर्म के साथ ही ब्रह्म (ईश्वर) को अधिकरण बतलाया गया है–'सत्यं बृहदतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति । अथर्व० काण्ड १२ पृथिवी सूक्त मन्त्र १) वाल्मीकि रामायण में 'रामोधर्मस्य विग्रहः' कह कर दोनों में समन्वय करते हुये परात्पर ब्रह्म राम को ही अन्यतम अधिकरण प्रतिपादित किया गया है । विष्णु सहस्रनाम में परमेश्वर को ही इनको धारण करने वाला (अधिकरण) कहा गया है–'द्यौः सचन्द्रार्क नक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः । वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ।। श्लोक १३४।।'

मीमांसा दर्शन धर्म को ही ब्रह्म के समान मानता है और वेदान्त दर्शन जहाँ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा–ब्र. सू. १।१।१।' से अपने दर्शन का आरम्भ करते हैं वहाँ मीमांसा 'अथातो धर्म जिज्ञासा–मी. सू. १।१।१' से अपने दर्शन का आरम्भ करती है। अतः मीमांसामत में जगत् का अधिकरण ब्रह्म नहीं प्रत्युत धर्म है। परन्तु दूसरे ही सूत्र 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः–मी. सू. १।१।२।' में धर्म के लक्षण में चोदना (प्रेरणा) मानती है। वेदान्तमत में प्रेरक ईश्वर है– 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥गी.१८।६१ सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम ॥ गी. १५।१५॥' अतः ईश्वर ही धारण कर्ता है। इस प्रकार इस धृति (धारण करना) हेतु से ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

यह ब्रह्माण्ड जिस पूर्ण अनुल्लङ्घनीय, अटल, अव्यभिचारी समन्वित, सोद्देश्य, अखण्ड नियमों पर स्थिर है, उस पर विचार करने से ईश्वर की सर्वज्ञता का ज्ञान होता है। विश्वका अभ्रान्त विज्ञान पर आधारित होना ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रमाण है। विश्व विज्ञान पर विचार करने पर इसका नियामक और संचालक सर्वज्ञ एक हीं व्यक्ति ईश्वर सिद्ध होता है। ईश्वर का नाम विश्वनियन्ता इसी लिये है।

[३क] धृत्यादेः—धृति के साथ आदेः पद है। इसआदि पद से धृञ् धारणे धातु के साथ एक ही आनुपूर्वी में पठित 'भृञ् भरणे एवं हृञ् हरणे, हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च' इन दोनों धातुओं से निष्पन्न पदों का ग्रहण होता है। हरिदासवृत्ति में 'आदि पदात् नाशपरिग्रहः। ब्रह्माण्डादि प्रयत्न वद्विनाश्यं, विनाशित्वात् पाट्यमान पटवत्' अर्थात् ब्रह्माण्डादि किसी प्रयत्नवान् से विनाश्य है, नाशवान् होनेके कारण, फाडेजाने वाले वस्त्र के समान' लिखा है। जिससे विश्व के विनाशकरने वाले सत्ता के रूप में ईश्वर सिद्ध होता है। यह बात उपरोक्त हृञ् धातु से भी सिद्ध है। हृञ् का प्रथम अर्थ है 'हरण'। विश्व एवं विश्व के जीवों में अपकर्ष, मल, दोष, एवं पापादि है। इसका शोधन होता रहता है। इसका शोधन करने वाला 'अपापविद्ध' परम विशुद्ध तत्त्व ईश्वर ही हो सकता है, दोष युक्त कोई जीवादि नहीं (स्वयमसिद्धः कथं परान् साधयति)। अतः पाप हारक (हरि) ईश्वर की सिद्धि होती है–'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपिस्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥बृ. ना. १।११.१००।' ईश्वर का एक नाम इसीलिए पापनाशनः–वि. सहस्र० श्लोक ११९।' है। न्याय दर्शनानुसार 'प्रवर्तनालक्षणाः दोषाः–न्या. सू. १।१।१८।' राग (काम, मत्सर. स्पृहा, तृष्णा, लोभ माया, दम्भ), द्वेष (क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष, अभिमान) मोह (विपर्यय, संशय, तर्क. मान, प्रमाद भय, शोक) ये ही पाप या मल हैं। इनको छुड़ाने वाला ईश्वर है। हृञ् का दूसरा अर्थ प्रापणं (नयनं) है। इस विश्वको ले जानेवाला नेता वा संचालक ईश्वर है। ईश्वर के सिवा इसका कोई भी संचालक नहीं होसकता है। इसीलिए ईश्वरका नाम नेता (जगद्यन्त्रनिर्वाहकोनेता) न्याय (नियमेन नीयते इति न्याय)– वि. सहस्र० श्लो० ३७, नियम (स्वेषु स्वेषु अधिकारेषु प्रजा नियमयतीति नियमः) श्लो० ३०, नय (नयतीति नयःनेता) श्लो० ५६।' कहा गया है 'एवं वेदों में ईश्वर का नाम नेतृ कहा गया है हृञ् का तिसरा अर्थ नाशन है। वह विश्व का नाश करने वाला है अतः उसे हरि (संसारं हरतीति हरिः) कहा गया है। एवं वही भय का नाश करनेवाला है। अतः उसका नाम 'भव-नाशनः श्लो० १०२ ' है (भयं नाशयतीति भयनाशनः)।' संसार में अति भय होने पर उससे त्राण के लिये नास्तिकों के मुँह से भी 'ईश्वर ! बचाओ' शब्द स्वतः निकल पड़ता है। इससे

ईश्वर की सत्ता स्वतः सिद्ध होती है। विश्व विनाशी है। अतः सर्वसमर्थ विनाशक आवश्यक है। वही संहारक ईश्वर है। कारं कारमलौकिकाद्‌भुतमयं मायावशात् संहरन्; हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति न्या. कु. २-४ हृञ् धातुको चतुर्थ अर्थ स्वीकार होता है। विश्व के लोग किसी न किसी नाम रूपसे ईश्वरकी प्रार्थना करते हैं। उसका स्वीकार करनेवाला कोई होना चाहिए। हमलोगों के मनुष्यादि से प्रार्थना करनेके समान वहि प्रार्थना स्वीकार करने वाला ईश्वर है 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हितान् गी. ७।२२।' 'अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। गी. ९।२४।' अब भृञ् धातु का अर्थ भरण होता है। इस जगत् का कोई भरण पोषण करने वाला होना आवश्यक है। माता पिता के द्वारा पुत्र के भरण पोषण करने के समान। वही विश्वभर्ता ईश्वर है और ईश्वर का नाम भर्ता (वि. सहस्र० श्लो० १७) है। भरणात् भर्ता विश्व के चौरासी लक्ष्य जीवों के लिये प्रातजीव भिन्न भरण पोषण भोजन व्यवस्था उसी के द्वारा होता है। 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।' अतः ईश्वर को 'भरण पोषणाधार' कहा गया है। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता इस 'आदेः [भृञ्, हृञ्] पद से होती है। यह सब कार्य अद्‌भुत और अलौकिक है। अतः इससे ईश्वर की सर्वज्ञता की सिद्धि भी होती है।

[४] पदात्=पद शब्द के व्यवसाय. रक्षा. स्थान, चिह्न, पैर, शब्द (सुबन्त-तिङन्त) वाक्य. एकवस्तु, अङ्क, अपदेश-ये दश अर्थ होते हैं-'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसाय प्रदेशयोः। पादतचिह्नयोः स्थान त्राणयोरङ्क वस्तुनो। मे०।।' 'पदं व्यवसित त्राण स्थान लक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु।।अ. को. ३।३।९३।' पद=१व्यवहार='पदात्' पद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या 'पदं' व्यवहारः। 'पटादि' सम्प्रदाय व्यवहारः स्वतन्त्र पुरुष प्रयोज्यः व्यवहारत्वात् आधुनिक लिप्यादि व्यवहार वत्।' अर्थात् 'पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदं इस व्युत्पत्ति से 'पद' शब्द का अर्थ व्यहार है। पटादि सम्प्रदाय स्वतन्त्र पुरुष (स्वतन्त्रः कर्ता) के द्वारा प्रयोज्य है, आधुनिक लिपि के समान। सृष्टि के आदि में इस पटादि व्यवहार का शिक्षक कोई होना ही चाहिए। वही ईश्वर है। विश्व में जो अनन्त कला-कौशल हैं जो अज्ञात काल से परम्परा रूप से चले आ रहे हैं। इन सभों का मूल स्रोत ईश्वर है। जिस प्रकार मायावी (बाजीगर) कठपुतली को सूत्रसंचार से अधिष्ठित करके उस कठपुतली को 'घट लाओ' इस प्रकार की आज्ञा देकर उसके द्वारा घटका आनयन करवा कर बालक के ज्ञान (संकेतग्रह) का शिक्षक होता है। उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि के आरम्भ में प्रयोज्य प्रयोजक रूप दो शरीरों (जिन्हें निर्माणकाय कहते हैं) के द्वारा व्यवहार करके सृष्टादि में लोगों को शक्तिग्रह करा देता है। इसी प्रकार घटादि का निर्माण करके शिक्षा देता है-'यथा मायावी सूत्र सञ्चारा-धिष्ठितं दारु पुत्रकं कृत्वा दारु पुत्रक घटमानय इत्यादि नियोज्य, घटानयनं सम्पाद्य, बालकस्य व्युत्पत्तौ प्रयोजकस्तथेश्वरोऽपि प्रयोज्यप्रयोजक भावापन्नं शरीरद्वयं परिगृह्य, व्यवहारं कृत्वा तदानी-न्तनानां शक्तिं ग्राहयति। एवं घटादि सम्प्रदायमपि स्वयं कृत्वा शिक्षयति। तदिदमुक्तं 'मायावत् समयादय-न्या. कु.२।२' इति। समयः शक्तिग्रहः।।' ईश्वर का इसीलिये एक नाम 'शिष्टकृत्-वि० सहस्र० श्लो० ४०' है एवं योगसूत्र में उन्हें 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेननवच्छेदात्' कहा है।

ईश्वर, ब्रह्म, जगत्स्रष्टा, विधाता आदि पदों के सार्थक होने से उन पदों के अर्थ-ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है-ईश्वरादि पदार्थतया ईश्वर सिद्धिः।' क्योंकि इन पदों की अर्थवत्ता ईश्वर में ही है। जिसमें अस्तित्व, ज्ञेयत्व एवं अभिधेयत्व रहता है वही पदार्थ है।

'पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं प्रत्यायकं प्रमाणतर्करूपम्' इस व्याख्या के अनुसार 'पदात्' के प्रथम अर्थ प्रमाणात् ईश्वर सत्ता की सिद्धि होती है-'तत्रैश्वर्य विशिष्टः संसार धर्मैरीषदप्यसंस्पृष्टः परो भगवान्महेश्वरः सर्वज्ञः सकलजगद्विधाता। स कथं ज्ञातव्यः अनुमानादागमाच्च। तथाहि विवादाध्यासितमुपलब्धिमत्कारणकम [कर्तृकम्-कर्तृ पूर्वकम्) अभूत्वाभावित्वाद्वस्त्रादिवदिति। सामान्य व्याप्तेरनवद्यत्वेन निराकर्तुमशक्यत्वात्। ततः सामान्य सिद्धौ परिशेषात्कार्यविशेषाच्च कर्तृविशेष-सिद्धिः॥ चित्रादि कार्यविशेषात् कर्तृविशेषसिद्धिवदिति। एकोहि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः। य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः (श्वे० ३।२) इत्याद्यागमाच्च। न्याय सार।' द्वितीय अर्थ 'तर्कात्' भी ईश्वर का साधक है-'कर्तारं ना कार्यं विना स्यात् इति नियमात्, यदि ईश्वर नहीं होता तो जगत् सृष्टि (कार्य) भी नहीं होता-इस तर्क से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

अब पद शब्द के उपरोक्त रक्षादि अर्थों से ईश्वर की सिद्धि दिखलायी जाती है।

पद=२ रक्षा-विश्व के प्रत्येक प्राणियों एवं वस्तुओं की रचना में स्वरक्षात्मक यन्त्रों की व्यवस्था है। आँख के सामने कुछ आते ही आँखों की पलकें स्वतः आँखों की रक्षा के लिये स्वचालित अपने कपाट बन्द करलेते हैं। शरीर के मांसकोषों पर आघात होने पर स्वतः रक्तकण मांस कोषों का निर्माण करके क्षतिपूर्ति करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक अङ्गों की स्वरक्षात्मक प्रवृत्ति स्वतः होती है। यह रक्षात्मक व्यवस्था ईश्वर कृत है। अतः ईश्वर का एक नाम 'रक्षणः [जगत्त्रयं रक्षन् रक्षणः] वि. सहस्र० श्लोक ११२' है।

पद=३स्थान-जहाँ स्थित होता है उस अधिकरण को स्थान कहते हैं। यह विश्व ईश्वर में ही स्थित है। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥गी० १०।४२॥ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ गी. ९।४।६॥' गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयं स्थानं निधानं बीज मव्ययम् ॥गी. ९।१८॥' यह अनन्त ब्रह्मोण्ड अनन्त ब्रह्म (ईश्वर) में ही स्थित हो सकता है। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ऋ. १।२२।२०॥'

'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्तिभूयः ॥गी० १५।४॥' 'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥गी. १५।५

पद=४लक्ष्म-लक्षण से लक्ष्य की सिद्धि होती है। सृष्टि कर्तृत्वादि लक्षणों को देखने से सृष्टि कर्तादि लक्ष्य रूप ईश्वर की सिद्धि होती है-'ऐश्वर्येण गुणेनासौ सृजते तच्चराचरम।' ऐश्वर्यं समस्त वस्तु नियमनसामर्थ्यम्।

पाद=५पैर-यहाँ पद (पैर) शब्द स्थान (देश) मापक पग (डेग) परिमाण को बोधक है। विश्व का मापक कोई होगा। वह मापक ईश्वर है और उसने ही अपने डेग (पग) से विश्वको मापा है-'त्रेधा निदधे पदम्। त्रिणिपादा विचक्रमे। ऋ.१।२२।१८ अतः यहाँ 'पदात्' हेतु से विश्व मापक यन्त्ररूप ईश्वर की सिद्धि होती है। अथवा, पद का अर्थ ईश्वर का पैर अंश मान जाये तो 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋ. १०।९०। से ईश्वर की सिद्धि होती है।

पद=६शब्द-ईश्वर शब्द सुबन्त-'ईश्वरः' एवं तिङन्त-'इष्टे' से ईश्वर की सिद्धि होती है। पुनः शब्द की शक्ति 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः इति ईश्वर सङ्केतः शक्तिः-त.सं. से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। तत्तो पदं-गी० ८।११-१२ कठ १।२।१५

पद=७वाक्य–इसकी व्याख्या आगे 'वाक्यात्' हेतु के प्रकरण में की जायेगी।

पद=८एकवस्तु–विश्व में एक वस्तु ईश्वर ही है–'तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नः। त. सं.।', 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति–उपनिषद्।' अतः एक वस्तु रूप में ईश्वर की सिद्धि होवी है। इसीलिये गणना में भी एक को राम कहकर गिनते है। 'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ॥शु. य. १७।१८॥

पद=९अङ्कः–अङ्क का अर्थ ललाट रेखा [ललाट रेखा लिखिता प्रशस्ता] का व्यवस्थापक ईश्वर ही है। पार्वतीजी मां से कही थी–'मेटि सकहिं को विधि के अङ्का। मातु व्यर्थ किमिलेहु कलंका। यह भाग्य रेखा हस्तमें भी अङ्कित रहती है। जिसका प्रत्यक्ष फल ज्ञान देखा जाता है। इसका निर्धारक वा अङ्कक ईश्वर प्रत्यक्ष सिद्ध है।

पद=१०अपदेश–'पदे लक्ष्ये निमित्तेऽपदेशः स्यात्–अ०को. ३।३।२१६ हेतु कारण विश्व के कारणों का भी कारण परम कारण अथवा हेतुओं का भी हेतु चरम हेतु परम हेतु ईश्वर है स कारणः कारणाधीपः।

[५] प्रत्ययतः—प्रत्ययः शब्द के १अधीन, २ शपथ, ३ ज्ञान, ४ विश्वास, ५ सद्धेतु, ६ आचार, ७ प्रसिद्ध, ८ छिद्र, ९ सनादि व्याकरण के प्रत्यय–ये नव अर्थ होते हैं–'प्रत्ययः शपथे छिद्रे विश्वासे सत्यहेतुषु–अनेकार्थक कोष श्लो० ११४ प्रत्ययोऽधीन शपथ ज्ञान विश्वास हेतुषु। रन्ध्रे अ. को. ३।३।१४८

प्रत्यय=१अधीन–विश्व में पूर्णतः स्वाधीन कोई नहीं है। सभी ईश्वर के पराधीनता में हैं। इसलिये ईश्वर का एक नाम 'निग्रहः [स्ववशेन सर्वं निगृह्णाति इति निग्रहः] वि०सहस्र. श्लो.९४' भी है। ईश्वर का एक नाम 'शास्ता [सर्वेषामनुशिष्टिं करोतीति शास्ता] वि. स. श्लो० ३५' भी है। विश्व में सामान्यतया परम्परया एक दूसरे एवं दूसरे तिसरे के अधीन (आश्रित) हैं। इस प्रकार जो अन्तिम आश्रय है और वह किसी पर आश्रित नहीं स्वाश्रित है वही सभों का मूल आश्रय ईश्वर है।

प्रत्यय=२शपथ–संसार के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तिम उपाय शपथ ही है। चाहे राष्ट्रपति हो या सैनिक, साक्षी हो या न्यायधीश सभी को शपथ लेना ही पड़ता है और सभी प्रायः ईश्वर की ही किसी न किसी रूप में शपथ लेते हैं। बिना शपथ का जगद्व्यापार नहीं चलता है। सभी ईश्वर की शपथ लेते हैं और शपथ तोड़ने पर ईश्वर को दण्ड प्रदाता मानते हैं। अतः शपथ का अधिष्ठान रूप ईश्वर की सत्ता स्वभाव सिद्ध होती है।

प्रत्यय=३ ज्ञान–ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। वह दो प्रकार का है–जीवात्मा और परमात्मा–'ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्रेश्वर सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ॥त.सं.॥ परमात्मत्वं च समवायेन नित्यज्ञानवत्वम्। समवायेन जन्यज्ञान (अनित्य) ज्ञानवत्वं जीवत्वम्। प्रतिविम्ब ॥ इस प्रकार समवायेन नित्यज्ञानवान् ईश्वर की सिद्धि होती है। विम्ब रचना का विज्ञान असीम है। इस ज्ञान का अधिकरण अनन्त और सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है। ज्ञान का कोई आश्रय होना ही चाहिए–'ज्ञानं कचिदाश्रितम्, कार्यत्वात्, रूपादिवत्।' विश्व विज्ञान के नियमों को परस्पर समन्वित और एक ही व्यापक नियम के अन्तर्गत नियमित देखने से असीम ज्ञानवात् नियामक ईश्वर की सिद्धि होती है। 'प्रत्ययः

प्रमाण्यात् । वेदजन्यज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादि प्रमावत् । अतः वेदजन्य ज्ञानका प्रामाण्य उसके कारणरूपवक्ता ईश्वर [करण] से जन्य है इसप्रकार वेदका वक्ता सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध है । पुनः 'प्रत्ययतः विधिप्रत्ययात् । आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः । यस्याभिप्रायः स एवेश्वरः । कहागया है वेद कर्ता ईश्वरमें सर्वोकी श्रध्दा है-'देवानामपि देवमुद्धवदति श्रद्धाः प्रपद्यामहे-न्या. कु. ३।२।३।'

प्रत्यय=४विश्वासः-शब्दप्रमाण का प्रामाण्य तभी होता है, जबकि उसका वक्ता प्रमाणिक हो। वैदिक वाक्यों का प्रामाण्य भी उसके वक्ता के प्रामाण्य पर आश्रित है। ईश्वर [नित्य और सर्वज्ञ] केअतिरिक्त किसि अन्यमें विस्वासही नहिं होगा । अनेक सर्वज्ञ माननेसे अव्यवस्था होगी-'प्रमाथाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलय सम्भवात् तदन्यस्मिन्नविश्वासन्नविधान्तरसम्भवः ॥ न्य.।कु.।, 'जानेबिनु कि होहि परतीति । बिनुपरतोति होहिं नहिं प्रीति ॥ प्रीतिबिना नहिं भक्तिदृढाइ । जिमिखगपति जलकेचिकनाइ ॥ 'अतः विश्वासात् ईश्वरकी सिद्धि होति है । 'परब्रह्मकोपाइये मनहिं के परतीति, भवानीशंकरौवन्दे श्रद्धाविश्बासरुपिणौ । याभ्यांविना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमिश्वरम ॥ अतः विश्वास से ईश्वर प्रत्यक्ष सिद्ध होता है ।

प्रत्यय=५सद्धेतु—सद्धेतुओं से अनुमानप्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्ध होता है । ये सद्धेतु प्रकृत 'कार्ययोजन., लोक की आठो युक्तियों में है । अतः इसकी व्याख्या सभियुक्तियों की व्याख्या के अन्तर्गत समझलेनी चाहिए । सद्धेतु साध्यके साधक होते हैं ।

प्रत्यय=६आचार—सभी आचारों का चरमउद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति ही है और अन्तिम आचार ईश्वर प्रणिधान ही है-'तदर्थं यम [अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रहः-इति यमाः] नियमा [शौच सन्तोष तपस्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः] भ्यां आत्म संस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥न्या. सू. ४।२।४६॥ अतः इससे भी ईश्वर की सिद्धि होती है ।

प्रत्यय=७प्रसिद्धः—विश्व में ईश्वर सर्वत्र स्वभाविक रूपसे प्रसिद्ध है-'शुद्धबुद्ध स्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदि विद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदाय प्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निलपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञ पुरुष इति याज्ञिका, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते, तस्मिन्नेवं जाति गोत्र प्रवर चरणकुलधर्मादिवदासंसारं सुप्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः, किं निरूपणीयम् ।' 'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धाबौद्धमिति प्रमाण पटवः कर्तेति नैयायिकाः, अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।' अतः सर्वत्र प्रसिद्धि ईश्वर की सत्ता का सर्वतन्त्र सिद्धान्त और प्रमाण है ।

प्रत्ययः=८छिद्र—गीता में भगवान् ने कहा है-'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम् ॥१८।५५।' अतः आत्मा का प्रवेश स्थान होने से इस छिद्र अर्थ में प्रत्ययात् ईश्वर की सिद्धि होती है ।

प्रत्यय=सनादि ९व्याकरण का प्रत्यय—व्याकरण के अनुसार 'न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। अतः ईश्वर ज्ञान भी ईश्वर शब्द से अनुविद्ध है । ईश्वर शब्द की सार्थकता और सत्ता है। इस ईश्वर शब्द से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती

है। इस ऐश्वर्ये (अदा०)। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ शु. य. ४०।१॥'

[६] श्रुतेः=श्रुति शब्द के तीन अर्थ होते हैं–१ वेद, २ कर्ण और ३ वार्ता–श्रुतिः श्रोत्रे च तत्कर्मण्याम्नाय वार्तयोः स्त्रियाम्–मे० ५८।६६, वेदे श्रवसि श्रुतिः–अ. को. ३।३।७३।'

श्रुति=१ वेद—इस अर्थ में श्रुतेः पद से दो प्रकार से ईश्वर की सिद्धि होती है–प्रथम वेदकर्ता के रूप में–'वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत्। द्वितीय वेद प्रतिपाद्य बिपय के रूप में–'कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः। स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद् विधौ ॥न्या. कु. ५।१५।' 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥गी. १५।१५।'

श्रुति=२ श्रोत्र—आकाश में व्याप्त अनहत् नाद रूप वेद ऋषियों द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुने गये। अतः श्रोत्र द्वारागृहित अनहद्नाद (कहेकवीर सुनो भाइ साधो अनहत बाजे डोल रे) द्वारा ईश्वर का ज्ञान होने से इस होतु द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है।'

श्रुति=३ वार्ता—अनादि और अज्ञात काल से सर्वत्र जन श्रुति के रूप में परम्परागत रूप से ईश्वर की वार्ता सर्वत्र सुनी जा रही है। शास्त्रों के रूप में भी यह वर्ता अनादि काल से चली आ रही है। अतः यह सर्वव्यापक अनादि वार्ता निर्मूल नहीं हो सकती। इस वार्ता के द्वारा सर्वत्र ईश्वर की सत्ता और सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

[७] वाक्यात्=वाक्य शब्द के साधारण अर्थ 'वाक्यं पद समूह स्यात्। वाक्यं द्विविधं–वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणं, अन्यदप्रमाणम् ॥ त. सं.॥' के अनुसार वेदों की पूर्ण प्रामाणिकता का कारण ईश्वर है। अतः वेदों को ईश्वरोक्त होने के कारण पूर्ण प्रामाणिक होने से ईश्वर की सिद्धि होती है। इस प्रकार वेदवक्तृत्वेन ईश्वर सिद्ध है। 'वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्।' से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध है। सर्वज्ञानमय वेद का वक्ता सर्वज्ञत्व विशिष्ट ईश्वर है।

वाक्य का दूसरा अर्थ भाषा है। विश्व में हजारों प्रकार की भाषायें है। परन्तु सभी भाषाओं की वाक्य व्यवस्था समान है। सभी भाषाओं में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण लिङ्ग, वचन, कारक, काल, उद्देश्य, विधेय आदि की समान प्रक्रिया और व्यवस्था। समरूपता के कारण एक भोषा के वाक्य दूसरी भाषा के वाक्य में रूपान्तरित होते हैं। सच तो यह है कि विश्व के सभी भाषाओं का मूल और जननी संस्कृतभाषा ही है। अन्य सभी भाषा संस्कृत के ही कालक्रम से विकृत रूप में उत्पन्न है। उस मौलिक (आदिम) भाषा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उसकी सृष्टि किसी मनुष्य द्वारा सम्भव नहीं है। अतः आदि भाषा का स्रष्टा सर्वज्ञ ईश्वर ही है।

वाक्य का तृतीय अर्थ–'तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता–अ. को. १।६।२।' के अनुसार प्रथम सुबन्त के अनुसार 'क्रियान्वयी कारकम्' छः प्रकार के होते हैं–१ कर्त्ता (क्रिया सम्पादकः कर्ता, व्यापाराश्रयः कर्त्ता), कर्म (क्रियया क्रान्तं कर्म. परसमवेत क्रियाफलाश्रयत्वं कर्म). ३ करण (यद् व्यापाराव्यवधानेन कार्यनिष्पत्तिस्तत्करणम्, साधकतमंकरणम्) ४ सम्प्रदान (सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत् सम्प्रदानम् तादर्थ्येचतुर्थी वाच्या) ५ अपादान (विभाग जनक व्यापारे ध्रुवं यत्त-

दपादानम् भुवः प्रभवश्च) ६ अधिकरण (आधारोऽधिकरणम् अधिक्रियतेऽस्मिन्नित्यधिकरणम् आधारः)। इनमें कर्ता कर्म करण और अधिकरण डुकृञ् करणे अर्थक होने से जगत्सृष्टि के कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण निमित्त कारणों का साधक एवं सम्प्रदान प्रयोजन (प्रयोजनमनुदीश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते) का तथा अपादान उत्पत्ति स्थान वा उपादान कारण का साधक है। इस प्रकार उक्तसुबन्त वाक्यों से जगत् के कर्त्ता कर्मादि रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। इसी प्रकार तिङन्त वाक्य के लक्षण के अनुसार सर्वप्रथम पठित धातु 'भू' का तिङन्त रूप 'भवति' विश्व एवं विश्व कर्त्ता की सत्ता का सोधक प्रमाण है-,भूसत्तायां (भ्वा० १) यद्यपि सत्ता जातिः न क्रिया तथापि आत्म-धारणं सत्तोत्युच्यते। स्वरूपेणावस्थानमिति यावत्। द्वितीय धातु एध वृद्धौ (भ्वा०२) से विश्व के 'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते अपक्षीयते विनश्यति इति षट् भाव विकाराः' सृष्टि विकार एवं विनाश का ज्ञापन होता है। जिससे विश्वस्रष्टा और संहारकर्त्ता ईश्वर की सिद्धि होती है।

[८] संख्या विशेषात्='संख्यास्यादेकाद्यादिविचारयोः-मे० 'एकत्वादि व्यवहार हेतुः संख्या-त. सं.।' यह संख्या व्यक्त संख्या (अङ्क गणित) और अव्यक्त गणित (बीज गणित) भेद से दो प्रकार की होती है। अङ्कगणित की प्रधान चार प्रक्रिया ये हैं-१ जोड़ (योग), २ घटाव (ऋण) ३ गुणा ४ भाग, एवं दश अङ्क हैं-शून्य (०), एक (१), दो (२) तीन (३) चार (४) पाँच (५) छः (६) सात (७) आठ (८) नव (९) एक एकादश अङ्क है अनन्त (००)। इन संख्याओं का प्रयोग गणित (गणना) में होता है। इस प्रकार संख्या का विस्तार शून्य से अनन्त तक है। शून्य और अनन्त अविकारी (अर्थात् उपरोक्त चतुर्विध गणित प्रक्रियाओं से अप्रभावित रहने वाले) हैं। अनन्त को किसी भी संख्या से योग, घटाव, गुण, भाग करने पर न तो उसमें वृद्धि होती है और न ह्रास अर्थात् कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। विश्व के सभी वस्तु सान्त है. गणना क्रम में जो अनन्त वस्तु है वही संख्या विशेष (अन्य संख्याओं का व्यावर्तक) है। अतः इस संख्या विशेष के विषय के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। यही शब्द प्रमाण वेदों में भी ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है-'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥ अथर्व०॥ इसे सन्त विनोवाजी ने इस प्रकार अनुवाद किया है-'पूर्ण है वह पूर्ण है यह, पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण को यदि लें निकाल, शेष तव भी पूर्ण ही रहता सदा।' इस प्रकार पूर्ण (अनन्त संख्या) ईश्वर का प्रमाण है। बौद्ध दर्शन में और ज्योतिष गणित में शून्य को पूर्ण कहा गया है। वौद्ध ईश्वर को मानते नहीं हैं। वे सत्ता को क्षणिक मानते है। उनके मत में सभी शून्य रूप है। अतः उनके मत से सभी कुछ शून्य (अवास्तविक और अभाव) रूप मालूम पड़ता है। परन्तु वास्तव में बौद्धों का शून्यवाद ऐसा नहीं है, वह अनिर्वचनवाद है, जैसा कि शून्यवादी नागार्जुन ने कहा है-'शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत्। उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।' अतः शून्य भी अचिन्त्य सर्व विलक्षण ईश्वर का ही व्यञ्जक होने से ईश्वर (अव्यक्त ब्रह्म) का प्रमाण है। यह प्रलयावस्था काल के ईश्वर का निरूपक है। इस प्रकार अङ्कगणित के संख्या विशेष (अविकारी संख्या) से ईश्वर की सिद्धि होती है।

वीजगणित में अज्ञात संख्या को एक्स (×) मान लिया जाता है और फिर बीज गणितीय प्रक्रिया से उसे ज्ञात कर लिया जाता है। इस प्रकार अज्ञात ईश्वर को एक्स मानकर इस बीज गणितीय प्रक्रिया से उसकी सिद्धि की जा सकती है। बीजगणित में अङ्कों के बदवे अक्षरों का प्रयोग होता है। अक्षर ब्रह्म ईश्वर का ज्ञान इन अक्षरों के प्रयोगों से भी होता है।

बीजगणित के समान ही रेखागणित भी है। इसमें अङ्कों एवं अक्षरों के स्थान में रेखाओं का प्रयोग होता है। बिन्दु–रेखा, केन्द्र, परिधि आदि इस रेखा गणित के उपकरण हैं। परन्तु सभों को मूल बिन्दु ही है । रेखा भी बिन्दुओं से ही बनती है । इस प्रकार रेखागणित का मूल बिन्दु परमाणु (परं वा त्रुटेः परमाणु=अखण्डनीय मौलिक पदार्थ न कि वैशेषिक अथवा विज्ञान के परमाणु) के ज्ञापक है तथा जगत् के मूल उपादान कारण के बोधक है । केन्द्र और परिधि ब्रह्माण्ड रचना (केन्द्र में सूर्य और चारो ओर चक्कर काटते हुये ग्रहोपग्रह नक्षत्रादि) एवं विज्ञान के परमाणु (केन्द्र में प्रोट्रोन और उसके चारो ओर चक्कर काटते हुये न्यूट्रोन) की रचना के प्रतीक हैं। विश्व रचना का ज्ञान रेखागणित से ही होता है । रेखागणित में साध्योंको कल्पनाकर सिद्ध (प्रमाणित) किया जाता है । पहले किसी वस्तु को मानलिया जाता है फिर उसे प्रमाणित किया जाता है। इस प्रक्रिया से ईश्वर को भी मानकर उसकी सिद्धि की जा सकती है । अतः रेखागणित विज्ञान से ईश्वर की सिद्धि होती है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गणित (अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित गति गणित आदि) विज्ञान के अधार पर ही निर्मित एवं व्यवस्थित है । सूर्य–चन्द्र–पृथिवी–ग्रह–उपग्रह आदि की स्थिति और गति इसी गणित विज्ञान पर आश्रित है । अतः गणित (संख्या विज्ञान) से ब्रह्माण्ड नायक ईश्वर के असीम ज्ञान की भी सिद्धि होती है । सभी विज्ञानों–१ पदार्थ विज्ञान २ रसायन विज्ञान ३ जीवविज्ञान ४ अन्तरिक्ष विज्ञान ५ चिकित्सा विज्ञान आदि का आधार गणित विज्ञान ही है। इस गणित का मूल अधिष्ठान इस गणितानुसार विश्व रचयिता ईश्वर सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिकरूप में सिद्ध होता है ।

इस प्रकार संख्या के अङ्क अर्थ में दो प्रकार से ईश्वर सिद्ध होता है–एक इस गणित विज्ञान के अधिष्ठान कर्तारूप में और दूसरा गणित विज्ञान के द्वारा प्रतिपाद्य रूप में ।

अब संख्या शब्द का दूसरा अर्थ विचारणा भी होता है–'चर्चा संख्या विचरणा–अ. को. १।५।२' महाभारत में लिखा है 'दोषाणाञ्च गुणानाञ्च प्रमाणं प्रविभागतः । कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ इसी अर्थ में सांख्यदर्शन विचारणा के कारण नाम पड़ा । अब विश्व में गुण दोषों का विवेचन करने पर निर्दोष पदार्थ एक मात्र ईश्वर सिद्ध होता है। अतः निर्दोष का अधिष्ठान रूप ईश्वर सिद्ध है । इसी प्रकार विचारणा से भी विश्वकर्ता एवं व्यवस्थापक ईश्वर की सिद्धि होती है। अतः इस अर्थ में भी दो प्रकारों से ईश्वर की सिद्धि हुइ–एक सामान्य विचार (ज्ञान) के द्वारा एवं दूसरा गुणदोष विचार के द्वारा ।

संख्यावान् का अर्थ विद्वान् होता है–'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ सत् सुधीः कोविदो बुधः । धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः । अ. को २।७।५।' विश्व में ज्ञान का तारतम्य देखा जाता है । एक से बढकर दूसरा विद्वान् होता है और दूसरे से बढकर तिसरा, तिसरे से बढकर चौथा। यह बढोत्तरी का क्रम इसी प्रकार चलता है । इस क्रम में जो सबसे अन्त में सबसे बढकर विद्वान् है, जिसके परे कोई विद्वान् नहीं है। वही अन्तिम पूर्ण ज्ञानी परम विद्वान् ईश्वर सिद्ध होता है। इसी प्रकार विद्याओं के मूल में जो सबसे पूर्व में विद्वान् था, जिससे ही विद्याए परम्परागत रूप में निर्गत हुइ हैं। वही विद्यास्रोत ईश्वर सिद्ध है । ऐसा ही सांख्य दर्शन कहता है–'आदि विद्वान् सिद्ध इति कापिलाः ।' इस प्रकार संख्या विशेष (ज्ञान विशेष) से ईश्वर की सिद्धि होती है ।

संख्या विशेष का एक अर्थ इन लौकिक गणित विज्ञान से परे संख्या विज्ञान से भी है, जिसमें एक में एक जोड़ने से एक ही होता है (जैसे एक बून्द और एक बून्द मिलकर एक ही होता है)–'परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति।' इस परम एक संख्या विशेष से ईश्वर की सिद्धि होती है।

'गण संख्याने (चुरा०) गणयति' इति संख्या। अङ्क पदे लक्षणे च (चुरा०)। संख्या विशेष (गणनाविशेष) एवं अङ्क विशेष (पद विशेष और लक्षण (लक्ष्यका निर्धारक साधन) विशेष) के द्वारा ईश्वर की सत्ता और सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

'सम्यक् ख्यायते कथ्यने अनया इति संख्या संज्ञा इस व्युत्पत्ति से विश्वकर्मा, विश्वस्रष्टा, ईश्वर आदि संज्ञा विशेषों से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

उदयनाचार्यजी की उपरोक्त कारिका के सभी हेतुएँ वेमन्त्रों से उद्भूत हैं एतावता वैदिक हेतु हैं। शुक्ल यजुर्वेद में विश्व कर्मासूक्त का अन्तिम मन्त्र है—

विश्वकर्माअजनिष्ट देव आदिद्गन्धर्वो अभवद्द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामषां गर्भंव्यदधात्पुरत्रा॥ शु.य.१७।३२;

इस मन्त्र में प्रथम नाम विश्वकर्मा से जगदुत्पादक (जगत्कर्तृत्व) द्वितीय नाम गन्धर्वः (गोः पृथिव्या धारकत्वात् गन्धर्वः) जगदाधारत्व (धृतिमत्व) तृतीय नाम पिता रक्षकः) जगद्रक्षितत्व का सोधक है। अतः संख्या (संज्ञा) विशेषात् जगत्कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है।

अनेकार्थध्वनि मञ्जरी में संख्या शब्द के अवधि और प्रतिज्ञा ये दो अर्थ बतलाये गये हैं। इन दोनों अर्थो से भी संख्याविशेषात् हेतु से ईश्वर की सिद्धि होती है—

'संख्यावधिप्रतिज्ञयो—अने० १९०।' 'अवधिस्त्ववधाने स्यात् सीम्निकाले विले पुमान्–मे० १०।२६। परिच्छदे विलेऽवधिः–अ. को. ३।३।९९। सीमा, बिल, समय। साध्यनिर्देशो प्रतिज्ञा–

'विहायसोऽपिनाकोऽपिद्युरपिस्यात्तदव्ययम्। तारापथोऽन्तरिक्षं च मेघाध्वा महाबिलम्॥ द्यौदिवौ द्वेस्त्रियामभ्रव्योमपुष्करमम्बरम्। नमोऽन्तरिक्ष गगनमनन्तं सुरवर्त्मखम्॥ वियद्विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाश विहायसी॥ अ. को.।'

पक्षी पेड पर हैं; पेड़ पृथिवी पर है और पृथिवी किसपर है? पक्षी का अधिकरण (आधार) वृक्ष है, वृक्ष का आधार पृथिवी है और पृथिवी का आधार क्या है? पृथ्वी गगन के मध्य (भ्रमति गगन मध्ये काश्यपी पक्षहीना) भ्रमण कर रही है अतः पृथिवी का आधार गगन (महाबिलम्=महासंख्या–संख्या विशेष) होने से इस संख्या विशेष हेतु के द्वारा मूलाधिकरणत्वेन' विष्णुपद=खं–खं ब्रह्म(शु.य.)' की सिद्धि होती है।

कल शब्द संख्यानयो (भ्वा० ४६१०) कलते। कल क्षेपे (चुरा० १६०४) कलयति। कलगतौ संख्याने च (चुरा० १८६६ कलयति।

काल के संख्या परिमाण–पृथकत्व–संयोग–विभाग ये पाँच गुण हैं। निमेष से युग–महायुग–कल्प आदि परिमाण संख्या से काल गणना के क्रम काल ही गणक है और वह काल अक्षय है। काल ही सबका क्षय कर देता है। 'कालः कलयतामहम् गी० १०।३० अहमेवाक्षयः कालो गी० १०।३३, 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो गी० ११।३२। 'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरोभूरिरेताः तमारोहन्तिकवयो विपश्चिततस्यचक्रा भुवनानि विश्वा॥ सप्तचक्रान् वहितकाल

एव सम्राभ्यनामीरसृतंन्वक्षः। सइमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यासो वहुधानु सन्तः। स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहु परमेव्योमन् ॥ स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पयत्। पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥ कालोऽभू दिवमजनयत् कालो इमाः पृथिवीरुत। काले ह भूतंभव्यं चेषितंहवितिष्ठते ॥ कालोभूतिमसृजत काले तपतिसूर्यः। कालेह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥ काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्। कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ काले तपः काले ज्येष्ठः काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥ तेनेषितं तेनजातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ कालोह ब्रह्म भूत्वाबिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥ कालः प्रजा असृजत कालो अग्ने प्रजापतिम्। स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालात् जायत ॥ अथर्व १९।५३।१–१०॥" कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः। कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥ कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही। द्यौर्मही काल अहिता॥ कालोह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा। कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्। काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः। इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः। सर्वल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स इयते परमो नु देवः ॥ अथर्व० १९।५४।१–५ इस प्रकार शब्द प्रमाणे नापि संख्याविशेषात् (कालविशेषात्) ईश्वर की सिद्धि होती है।

काल पूर्वापर क्रम का निर्धारक है। हम से पूर्व हमारे पिता थे, उनसे पूर्व उनके पिता (हमारे पितामह) इस प्रकार उनसे पूर्व फिर उनसे पूर्व क्रम में जाते जाते अन्त में एक व्यक्ति ही बचेगा। क्योंकि आज विश्व में मनुष्यों की संख्या तीन अरब है। इसके पूर्व दो अरब थी और इस क्रम से पूर्व पूर्व में संख्या ह्रास क्रम नियम होने से अन्त में एक व्यक्ति होगा जिसके पूर्व कोई नहीं था। वही आदि और अपूर्व व्यक्ति ईश्वर है। अतः संख्याविशेषात् (काल क्रम विशेषात्) ईश्वर की अनुमान प्रमाण से भी सिद्धि होती है।

अनन्त है अतः जगत् को सीमा अनन्त है। परन्तु विश्व की सभी वस्तुयें ससीम हैं। असीम केवल ब्रह्म (बृहत्) ही है। उसकी व्याप्ति सर्वत्र अबाध है। अतः संख्या विशेषात् (सीमा विशेष से) ईश्वर की सिद्धि होती है।

संख्याविशेषात्=प्रतिज्ञाविशेषात्। प्रति (प्रति प्रतिनिधावित्थम्भूताख्यानाभिमुख्योः। मात्रार्थ भागवीप्सासु लक्षण प्रतिदानयोः ।।मे०।। 'अभि इत्याभिमुख्यम् 'प्रति' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्–निरुक्त।) ज्ञा (ज्ञा अवबोधने (क्र्या०) जानाति, ज्ञा निशामनं चाक्षुषज्ञानम् इति माधवः, ज्ञापन मात्रम् इत्यन्ये। निशानंतीक्ष्णी करणम्।)

अभि का अर्थ अभिमुख (आगे) और प्रति का अर्थ प्रातिम्य (पीछे) होता है। संख्या गणना (एकादि गणना) में दो, तीन, चार आदि अभि (आगे की) संख्या है और चार से पीछे तीन तीन से पीछे दो और दो से पीछे एक संख्या है। एक के पीछे शून्य है अर्थात् कोई संख्या नहीं है। अतः एक संख्या विशेष है। क्योंकि सभी संख्याओं के पीछे संख्या है और एक के पीछे कोई संख्या नहीं है। पुनः सभी अन्य संख्यायें एकके योगों से हीं बनी है और वे सभी एक का विकार या परिणाम है। परन्तु एक किसी के योग से नहीं बना है। वह स्वतन्त्र और अविकारी है तथा मूल संख्या है।) इस संख्या विशेष एक से जगत्स्रष्टा ईश्वर की सिद्धि शब्द प्रमाण से होती है–"द्यावाभूमी जनयन्देव एकः–शु. य. १७।१९ ऋ. १०।८१।३=अथर्व० १३।

२।२६=श्वे० ३।३ तै. सं. ४।६।२४ तै. आ. १०।१।३, 'सप्तऋषीन् पर एक माहुः-शु. य. १७।२६, यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनानि यन्त्यन्या-शु. य. १७।२७।'

पुनः इस एक संखया से अनुमान द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि होती है-'ज्ञानाधिकरणमात्मा। सद्विविधः परमात्मा जीवात्माश्च। तत्र परमात्मा सर्वज्ञः एक एव।' पुनः परमात्मा की संज्ञा 'एक' भी है (विष्णुसहस्रनामश्लोक ९१)। परमार्थतः सजातीय विजातीय स्वगतभेद निर्मुक्तत्वात् एकः 'एकमेवाद्वितीयम् (छा० उ० ६।२।१) इति श्रुतेः ॥शां. भा.॥" पुनः एक में ही सभी दृश्य अदृश्य तत्त्वों की मौलिक एकत्व है, और मौलिक एक तत्त्व ईश्वर है। अतः अनुमान द्वारा भी इस एक संखया विशेष से ईश्वर की सिद्धि होती है।

संखया विशेष=प्रतिज्ञा विशेष=१ लक्षण (लक्ष्य निर्देश) २ इत्थम् भूताखयान (इस प्रकार के है-ऐसा बतलाना) ३ भाग अंश-हिस्सा) ४वीप्सा (व्याप्त करने की इच्छा) के अवबोधन-'लक्षणेत्थंभूताखयान भागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः-पा० १।४।९।" से ईश्वर की सिद्धि होती है-१लक्षण (ईश ऐश्वर्यं (अदा०) ष्टे) 'यो भूतानामधिपतिर्यस्मिल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहंमयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ शु. य. २०।३२॥" ईशा वास्यमिदं सर्वयत्किंच जगत्यां जगत् ।शु, य. ४०।१ (२इत्थम् भूताखयान) जगत्क्रीडाभिः रामः। रमुक्रीडायाम्। कुर्वन् जगत् क्रीडति-न्या. कु.। इत्थम् भूतलक्षणे-पा. २।३।१। 'इदमस्थमुः पा. ५।३।२४। अनेन प्रकारेण इत्थम्-"कारकारमलौकिकाद्भूत मयं कुर्वन् जगत्क्रीडति-न्या. कु,) ३ भाग (पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि-शु. य, ३१।३) ४ वीप्सा (व्यापिकी इच्छा। 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्-शु. य. ३११।' अतिष्ठन्तं परिविश्वेअमुषन्छ्रियोवसानश्चरति स्वरोचिः। महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥शु. य. ३३।२२॥)

इस प्रकार 'संखयाविशेषात्' हेतु के प्रकरण में संखयाशब्द के विभिन्न अर्थो से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

ॐ श्रीराम द्वय मन्त्र ॐ

[व्याख्याकार—वैदेहीकान्तशरण]

श्रीरामद्वयमन्त्रमद्भुततमं वाक्यद्वयं षट्पदं, बाणाक्षिप्रमिताक्षरं तु खलु विद्धि त्वं दशार्थान्वितम् ।
युक्तं तत् त्रिपदैस्तुतत्र सुमते पूर्वं शुभस्यास्पदं,
वाक्यं पञ्चदशाक्षरं तदनु दिग्वर्णात्मकं तूत्तरम् ॥श्रीवै.म.भा.२।२५

विषय=इस श्लोक में श्रीरामद्वयमन्त्र के स्वरूप, आकार प्रकार, रूपरेखा, शब्दसौष्ठव, पदयोजना एवं रहस्यों का दिग्दर्शन है ।

व्याख्या—श्री=परम रस ('अथ या एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहम्–शतपथम् ।' 'ऋचः सामानानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्–तैत्तिरीयारण्यकम् ।') संपत्ति (संपत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च–अ॰ को २।८।८२) । वेश, रचना, शोभा, सरस्वती, लक्ष्मी, त्रिवर्ग-सम्पत्ति विविध उपकरण ('श्रीर्वेश रचना शोभा भारती सरलद्रुमे ॥ लक्ष्म्यां त्रिवर्गसम्पत्ति विधोकरणेषु । विभूतौ च मतौ च स्त्री–मे॰ शन्तवर्ग १–२) 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया । इन्दिरा लोकमाता मा क्षीरोदतनया रमा । भार्गवी लोक जननी क्षीरसागरकन्यका ॥अ.को. १।१।२७।' 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या–शु. य. ३१।२२।' आचार्य चरण ने श्री पद का अर्थ आगे सर्वाधीशेश्वर

श्रीरामजी की प्राप्ति करानेवाली सीताजी कहा है-"सर्वाधीशेश्वरस्यात्रिहेतुरत्राभिधीयते सीता पुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु" श्लो० २।२६।' 'विभुत्वतो निर्भरता परैस्तैः श्रीव्याप्तिराद्यैरभिधीयते हि। प्रपञ्च निर्मातृ विरञ्चिहेतु श्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः ॥नित्यं सा पुरुषकारभूता सीताऽनपायिनी। अनुपायान्तरैर्विज्ञैरुच्यते तदुपायता ॥श्लो०४।४५-४६॥

राम=परात्पर ब्रह्मश्रीराम(विश्वं जातं यतोद्धा यदवितमखिलं लीयते यत्र चान्ते. सूर्यो यत्तोजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः यद्भीत्या वातिवातोऽवनिरपि सुतलं यातिनैवेश्वरोज्ञः, साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभ गुणवानव्ययो विश्वभर्ता॥ श्रीमानर्च्यः शरण्यो बहु विधविबुधैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मोऽस्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदित सुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः। शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै निर्मृत्युः सर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः॥ श्लो० १।८-९।'

द्वय=द्वय पद संख्या वाचक है। अर्थ होता है-'दो'। यहाँ यह द्वय पद श्री सीता एवं राम इन दोनों का प्रकाशक होने से 'श्रीराम द्वय' कहा गया है।

मन्त्रम्='मननात्त्रायते इति मन्त्रः' 'वेद भेदे गुप्तवादे मन्त्रः' आदि लक्षण एवं अभिधान से प्रोक्त वैदिक, परम्पराप्राप्त, गोपनीय एवं मनन करने पर रक्षा करनेवाला अक्षरसमूह मन्त्र कहा जाता है। यह हमारे आचरण का भी अनुप्रेरक है। वेदऋषि कहते हैं कि मन्त्र (मन्त्रार्थ) के अनुसार आचरण करें-'मन्त्र श्रुत्यं चरामसि सामवेद पूर्वार्चिक १७६। यहाँ 'श्रीरामद्वयमन्त्रम्' कहा गया है। इसके दो अर्थ निष्पन्न होते हैं-(१) श्रीरामजी का द्वयमन्त्र (दो वाक्यों वाला मन्त्र अथवा दो मन्त्र, [२] श्री (सीता) का मन्त्र और राम का मन्त्र (अर्थात् सीताजी और रामजी-इन दोनों का ही मन्त्र)। यहाँ 'मन्त्रम्' यह एक वचन पद दोनों ही वाक्यों एवं दोनों ही देवताओं की अभिन्नता एवं एकत्व के ज्ञापन के लिये है। अतः श्रीरामजी का द्वयमन्त्र (दो वाक्यों वाला मन्त्र) एक ही मन्त्र है, दो मन्त्र नहीं, इसीप्रकार श्रीरामद्वय मन्त्र एवं सीताद्वय मन्त्र भी एक ही मन्त्र है, दो नहीं.-ऐसा एक वचनान्त पद 'मन्त्रम' से सिद्ध है। इसे ही 'मतो पुरुषकारस्य नित्य सम्बन्ध उच्यते-श्लो० २।२७' में दर्शित किया गया है। 'श्रीमद्रामचन्द्र' पद से श्री(सीता) और राम में समानाधिकरण्य और एकत्व बतलाया गया है।

अद्भुततमम्=विस्मयोऽद्भूतमाश्चर्यं चित्रम् अ.को. १।७।१९ विलक्षण वस्तुको अद्भुत कहते हैं। यह श्रीरामद्वयमन्त्र सर्वविलक्षण ही नहीं अपितु परम विलक्षण है। इससे बढकर कोई भी विलक्षण नहीं है, न था और नहीं हो सकता है। इसमन्त्र को परम अद्भुत होने का कारण यह है कि इस मन्त्र के प्रतिपाद्य देवता वा उद्देश्य श्रीरामजी भी-'श्रीमन्तं श्रुतिवेद्यमद्भुतगुणग्रामाग्रयरत्नाकरं-श्लो० १।१' एवं श्रीसीताजी भी 'ऐश्वर्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जगच्चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणा वात्सल्यसीमा च या, विद्युत्पुञ्जसमान कान्तिरमितक्षान्तिः सुपद्मेक्षणा-श्लो १।२' अद्भुततम हैं। अतः मन्त्र के प्रतिपाद्य देवता के अद्भुततम होने से यह मन्त्र भी अद्भुततम सिद्ध है। इस मन्त्र में आकारिक और वास्तविक दोनों प्रकार की अद्भुतता है। इसके आकारिक औद्भुत्य का दिग्दर्शन इसी प्रस्तुत श्लो० २।२५ में ही-"वाक्यं द्वयं षट्पदं ..वर्णात्मकंतूत्तरम्" वाक्य में कराया गया है एवं वास्तविक अद्भुतता का दिग्दर्शन अग्रिम श्लोक २।२६-३४ में कराया गया है।

वाक्य='वाक्यं पद समूहः स्यात्।' 'तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता-अ. को. १।६।२।" शब्द अथवा शब्दोंका समूह जो पूर्व अर्थ वा भाव प्रकट करता है वाक्य कहलाता है

भाषा विचार का व्यञ्जक है और विचार वस्तु का जब हमारा मानसिक निर्णय भाषा द्वारा व्यक्त (प्रकाशित) होता है, तब वह वाक्य कहलाता है। प्रत्येक वाक्य के तीन अङ्ग है-(१) उद्देश्य (२) विधेय और (३) संयोजक। वाक्य मानसिक निर्णय और आन्तरिक भावनाओं की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। यह तत्त्व का ज्ञापक और प्रतिपादक है।

द्वयम्=श्रीरामद्वयमन्त्र को 'वाक्यद्वयम्' इसलिये कहा गया है कि इसमें दो वाक्य हैं-(१) श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये।' एवं (२) 'श्रीमते रामचन्द्राय नमः। ये दोनों ही तिङ्‌ सुबन्त युक्त क्रिया और कारकपूर्ण उद्देश्य विधेय लक्षण युक्त पूर्ण अर्थ एवं भाव को प्रकट करनेवाले हैं। अतः इनका वाक्य द्वयम् होना सिद्ध है। पुनः यह मन्त्र दो बातों-(१) शरणग्रहणकरनो और (२) नमस्कार करना को बतलाने वाला होने से भी वाक्य द्वयम् है। इसी प्रकार यह मन्त्र श्री रामजी के साथ ही श्रीसीताजी के सम्बन्ध में भी ज्ञापन करने के कारण भी वाक्य द्वयम् है। दोनों वाक्यों का उद्देश्य पद (श्रीमद्रामचन्द्र) एक ही है और क्रिया पद दो हैं-(१) शरणं प्रपद्ये एवं (२) आय नमः। दोनों क्रिया पद परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। 'शरणं प्रपद्ये' संकल्पवाक्य है और 'नमः' क्रिया वाक्य। दोनों परस्परापेक्षित हैं।

षट्पदम्='पदं व्यवस्थित त्राणस्थान लक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु अ.को. ३।३।९६।" पदम् 'न्' के व्यवसाय, रक्षा, स्थान, चिह्न, पैर, शब्द, वाक्य, एक वस्तु और अपदेश-ये दश अर्थ होते हैं। व्याकरण शास्त्रानुसार जिन शब्दों के अन्त में सुप् और तिङ्‌ प्रत्यय हो उनकी पद संज्ञा है- "सुप्तिङन्तं पदम्-पा० १।४।१४" किन्तु तर्कशास्त्रानुसार शब्द और पद में अन्तर है। सभी पद शब्द हैं पर सभी पद नहीं हो सकते। पद होने के लिये शब्दों में शब्द होने के अतिरिक्त इस गुण का भी रहना आवश्यक है कि वे स्वतन्त्र रूप से किसी वाक्य के उद्देश्य अथवा विधेय बन सके सभी शब्दों में बाक्य के उद्देश्य अथवा विधेय बनने की शक्ति नहीं है। अतः सभी शब्द पद नहीं बन सकते। अतः केवल वे शब्द या शब्द समूह जो स्वतन्त्र रूप से किसी भी वाक्य के उद्देश्य या विधेय हो सकते हैं या होते हैं पद कहलाते है। न्यायशास्त्र के अनुसार शक्तिमान् शब्द को पद कहते हैं। जिस शब्द में एक अर्थ विशेष द्योतन करने की शक्ति रहनी है, वह पद कहलाता है-'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः इतीश्वर संकेतः शक्तिः-तर्कसंग्रहः। इस पद से इस अर्थ का बोध होता है, यह संकेत ईश्वरीय है। यहाँ प्रस्तुत श्रीरामद्वय मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों का संकेत ईश्वरीय है-ऐसा बोध कराने के लिये आचार्य चरण ने यहाँ 'पदम्' शब्द को व्यवहार किया है। षट्पद संख्यावाचक है। पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पद शब्द का अर्थ प्रत्यायक (बोधक) है। जिस प्रकार षट्दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) से परब्रह्म परमेश्वर का बोध एवं उनकी प्राप्ति का उपाय (साधन बोध) तथा दर्शन (फल) होने से उन्हें षट्दर्शन कहा जाता है। उसी प्रकार इस द्वयमन्त्र के षट्पदं (प्रत्यायकं) से भी परात्पर ब्रह्म श्रीराम का बोध उनकी प्राप्तिका प्रत्यय (उपाय) एवं उनका दर्शन और प्राप्ति होता है। अतः षट्पदं का व्यवहार हुआ है। श्रीरामद्वयमन्त्र के षट्पदं कहने में अनेक रहस्य हैं। तारक मन्त्र षडाक्षर है (रसमितशुभदस्वक्षरः श्लो० २।१) तो द्वयमन्त्र षट्पद (षट्पदं श्लो २।२५) है। यह दोनों का साधर्म्य, समानाधिकरण्य, एक रूपता एवं एक वाक्यता का निरूपक है। दोनों का रस (रसास्वादन स्नेहनयोः) एवं शुभद साधर्म्य का प्रतिपादक है। तारक मन्त्र के समान ही यह द्वयमन्त्र भी षड् व्याप्ति भेदक (श्रुति मुनि गतितोत्कृष्टषड् व्याप्तिभेदम्-

श्लोक २।३) अर्थात्–नाम, रूप, यश, गुण, स्वरूप, मन्त्र–इन षड्व्याप्ति पूर्ण है। जहाँ तारक मन्त्र में षट् अक्षर हैं वहाँ द्वयमन्त्र में षट् पद है। इस प्रकार मूल तारक मन्त्र का ही विकास यह द्वय मन्त्र है। अतः द्वयमन्त्र का ही अङ्ग (वृक्ष–पल्लव, फूल–फल) रूप यह द्वयमन्त्र है। हिन्दूशास्त्रों के अनुसार सर्वत्र षडङ्गों की ही कल्पना वा मान्यता है। पूजा काल में एवं श्रीराम मन्त्र जप काल में भी षट् अङ्ग न्यास ही किया जाता है। ज्ञानपुरुष रूप वेद भगवान् के भी षट् अङ्ग ही हैं–"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिपामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् 'तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ पाणिनीय शिक्षा ४१–४२॥" इसी प्रकार भगवन्मन्त्र के भी छःअङ्ग हैं और उन छः अङ्गों के साथ उनका साङ्ग अध्ययन एवं उपासना करने से ब्रह्मलोक (साकेत) की प्राप्ति होती है। 'अभिधानकोशतः पदार्थः निश्चय ।१।३।५ पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ।१। ३।१५। काव्यालङ्कार सू०॥" अतः इस द्वयमन्त्र का अभिधान कोश के परिज्ञान से पदों के ठीक अर्थ का अनुसन्धान करना चाहिए एवं इन षट् पदों की रचना विशेष में रखे हुये उनके सौन्दर्य और उपयोगिता की परीक्षा किये हुये अर्थात् उनके अवेक्षण को स्थान्य परिवर्तन, परिवर्तन वा क्रम भेदकर नष्ट नहीं करना चाहिए-ऐसा ही उस 'षट्पदं' में प्रयुक्त 'पदं' पद से सिद्ध होता है। जिस प्रकार–"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड् विधं सूत्र लक्षणम् ॥" के छः लक्षणों से सूत्र का ज्ञापन होता है। उसी प्रकार श्रीरामतारक मन्त्र के छः अक्षरों एवं श्रीरामद्वयमन्त्र के छः पदों से इनमन्त्रों का ज्ञापन होता है। षट्पद नाम भ्रमर का है–"मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः। द्विरेफ़ पुष्पलिड् भृङ्ग षट्पद भ्रमरालयः ॥अ. को. २।५।२९॥" इस प्रकार षट्पद होने से यह श्रीरामद्वयमन्त्र भी भ्रमर रूप है। जिस प्रकार भ्रमर पुष्प के ही चारो ओर भ्रमण करता रहता है एवं पुष्प के मधुर रस का अपने षडेन्द्रियों (नेत्र–रसना–घ्राण–त्वक्–श्रोत्र–मन) द्वारा आस्वादन करता है। उसी प्रकार यह द्वयमन्त्र एवं इस द्वयमन्त्र के जापक 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' के अनुसार भ्रमररूप अपने षट्पद द्वारा परात्पर ब्रह्म श्रीरामचन्द्रजी के चरणारविन्द के मधुरस का पान करता है–"पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।" षट् कर्मा नाम ब्राह्मण का है–"षट्कर्मा यागादिभिवृतः–अ. को. २।७।४" अतः यह षट्पद द्वयमन्त्र ब्राह्मण के यागादि षट् कर्म रूप है।

अब इस द्वयमन्त्र के षट्पदों का विभाग बतलाया जाता है। यह द्वयमन्त्र समष्टि रूप से षट्पद है–(१) श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ (२) शरणं (३) प्रपद्ये (४) श्रीमते (५) रामचन्द्राय (६) नमः।" इसी प्रकार यह द्वयमन्त्र व्यष्टि रूप से भी षट् पद है–प्रथम वाक्य (१) श्री (२) मत् (३) रामचन्द्र (४) चरणौ (५) शरणं (६) प्रपद्ये द्वितीय वाक्य (१) श्री (२) मते (३)रामचन्द्र (४) आय (५) न (६) मः। इसी प्रकार यह उभयनिष्ठ रूप अथवा सामान्य रूप से भी षट् पद है–(१) श्रीरामचन्द्र (२) चरणौ (३) शरणं (४) प्रपद्ये (५) आय (६) नमः। पुनः दोनों वाक्यों में उद्देश्यपद (श्रीमते रामचन्द्राय) उभयनिष्ठ है। अतः उनका एक ही बार गणना करने पर षट्पद इस प्रकार बनते हैं–(१) श्रीमद् (२) रामचन्द्र (३) चरणौ (४) शरणं प्रपद्ये (६) नमः। अतः दोनों ही वाक्यों में ये ही मूल छः पद हैं।

बाणाक्षिप्रमिताक्षरम्=बाण शब्द का अर्थ तीर होता है–"पृषत्कः वाण विशिखा अजिह्मग खगाशुगाः। कलम्ब मार्गन शराः पत्रीरोप इषु द्वयोः ॥अ. को. २।८।८६–८७" अक्षिका अर्थ नेत्र

होता है–"लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी ।। अ. को. २।६।९३।" प्रमित का अर्थ प्रमाण एवं यथार्थ ज्ञान होता है–"प्रमितौ प्रमा–अ. को. ३।२।१०।।" "यत् अर्थ विज्ञानं साप्रमितिः वा. भा. १।१।१।" अक्षर शब्द का मोक्ष, परब्रह्म, वर्ण, प्रकाश, धर्म, तप, मूलकारण, अपामार्ग–ये आठ अर्थ होते हैं–'अक्षरं तु मोक्षेऽपि अ. को. ३।३।१८२।" यहाँ 'बाणाक्षिप्रमिताक्षरम्' शब्द में बाण का साङ्केतिक अर्थ पाँच संख्या (क्योंकि कामदेव के पञ्चबाण प्रसिद्ध हैं–"अरविन्द मशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।।अ, को. क्षे.)।।" अक्षि का साङ्केतिक अर्थ दो संख्या है (क्योंकि सर्वत्र दो नेत्र प्रसिद्ध हैं। एक नेत्र केवल कौआ को ही होता है–'स एव च चिरञ्जीवी चैकदृष्टिश्च मौकुलिः । अ. को. क्षे. ।' त्रिनेत्र केवल शंकर हैं और सहस्रनेत्र केवल इन्द्र) ।।" अतः अङ्कानां वामतो गतिः के अनुसार बाणाक्षि का साङ्केतिक अर्थ पच्चीस संख्या है । अक्षर शब्द का अर्थ वर्ण है प्रमित शब्द शब्द निश्चितार्थक है । अतः 'बाणाक्षिप्रमिताक्षरम्" का अर्थ हुआ पच्चीस अक्षरों (वर्णो) से निश्चित (सीमित एवं प्रमाणित) अक्षरों वाला । इस श्रीरामद्वयमन्त्र में–"श्री१ म२ द्रा३ म४ च५ न्द्र६ च७ र८ णौ९ श१० र११ णं१२ प्र१३ प१४ द्ये१५। श्री१६ म१७ ते१८ रा१९ म२० च२१ न्द्रा२२ य२३ न२४ मः२५ ।।" ये पच्चीस अक्षर हैं । पुनः बाण शब्द का सांकेतिक अर्थ ५ संख्या इसके अनुमान प्रमाण के पञ्चावयव (प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरण–उपनय–निगमन) एवं पञ्चरूप (तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्वं, सपक्षसत्त्वं, विपक्ष व्यावृत्तिः, अवाधित विषयत्वं, असत्प्रतिपक्षत्त्वं चेति)।' का बोधक होने से अनुमान प्रमाण का बोधक है । इसी प्रकार अक्षि शब्द 'प्रति+अक्षण=प्रत्यक्षम्' अथवा 'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्य क्षम्" से यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण का बोधक है ।अक्षि का सांकेतिक अर्थ २ संख्या प्रत्यक्ष के लौकिक प्रत्यक्ष एवं अलौकिक प्रत्यक्ष इन दो भेदों का बोधक है। यहाँ 'बाणाक्षि' का अङ्कानां वामतोगतिः के अनुसार प्रथम् प्रत्यक्ष तब अनुमान–इस क्रम का निरूपण है। अक्षर पद शब्द प्रमाण का बोधक है । अतः 'बाणोक्षिप्रमिताक्षरम्' का अर्थ हुआ कि यह श्रीरामद्वयमन्त्र 'त्रिधा प्रमाणमध्यक्षानुमानशब्दभेदतः' के अनुसार प्रत्यक्ष–अनुमान–शब्ध इन सभी प्रमाणों से प्रमाणित है । इसी प्रकार इसका बाण पद–"धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं, शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा, लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्यविद्धि। प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। मु० २।२।३–४।' का बोधक और अक्षि पद–"न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुपश्य मे योगमैश्वरम् ।।" में कथित दिव्य चक्षु का बोधक है । इस प्रकार यह श्रीराम द्वयमन्त्र श्रीरामजी के ईश्वरीय रूपका साक्षात्कार करानेवाला है–इस तत्त्व का बोधक यह 'बाणाक्षिप्रमिताक्षरम्' पद है। इसके अतिरिक्त यह बाण पद इस श्रीराम द्वयमन्त्र की अमोघता [जिमि अमोघ रघुपति के बाणा] एवं भव वारिधि शोषण [लछिमन बाण सरासन आनू । शोषौं वारिधि विशिख कृशानु ।।] आदि तथा 'प्रत्यूहव्यूह भंगं 'रामशस्त्रास्त्रसंघः।' आदि का भी ज्ञापक है । अक्षि पद "राजीव नय धरे धनु शायक । भक्त विपत्ति भञ्जन सुखदायक ।।" आदि का बोधक है। इस द्वयमन्त्र के पच्चीस अक्षर अविनाशी हैं। अतः इन्हें अक्षर (नित्य) शब्द से ज्ञापित किया गया है । पुनः यह 'बाणाक्षिप्रमिताक्षरं' अर्थात् पच्चीस अक्षर प्रमित पद पच्चीस तत्त्वों में चौविस तत्त्वों से मुक्ति तथा पच्चीसवें तत्त्व ईश्वर की प्राप्ति का साधक है । ऐसा इसके मोक्षवाचक अक्षर पद से ज्ञापित है । प्रमित पद इस द्वयमन्त्र की प्रामाणिकता का निरूपक है ।

तु=यहाँ 'तु' पद पाद पूरण के अतिरिक्त श्रीरामद्वयमन्त्र के अवधारण (निश्चयी करण) के लिये भी प्रयुक्त है-'तु स्याद्भेदेऽवधारणे-अ. को. ३।३।२४२।'

खलु=यहाँ 'खलु' पद वाक्यालङ्कार के अतिरिक्त जिज्ञासा, अनुनय और संशय निषेध के लिये भी प्रयुक्त है-"निषेधवाक्यालङ्कार जिज्ञासाऽनुनये खलु अ. को. ३।३।२५५।"

विद्धि=यहाँ विद्धि [विदज्ञाने, विद विचारणे] क्रियापद ज्ञापनार्थ, ज्ञानार्थ एवं विचारणार्थ प्रयुक्त है। लोट् लकार से प्रश्नकर्त्ता जिज्ञासु श्रीसुरसुरानन्दाचार्यजी को एवं समस्त जिज्ञासु जगत को जानने एवं विचारने [मनन करने] का परामर्श आज्ञा वा आदेश दिया गया है। लोट् लकार मध्यम पुरुप में आज्ञा अथवा मृदुउपदेश वा मन्त्रणा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

त्वं=यह युष्मद् सर्वनाम प्रत्यक्ष उपस्थित प्रश्नकर्ता श्रीसुरसुरानन्दाचार्यजी के व्याज से सभी मोक्षार्थी जीवों के लिये प्रयुक्त है।

दशार्थान्वितम्=दश पद संख्यावाचक है। अभिधेय, प्रयोजन आदि को अर्थ कहते हैं-"अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजन निवृत्तिषु-अ. को. ३।३।८६।" साहचर्य, एकत्र स्थिति एवं तज्जन्य (सन्तान) को अन्वय कहते हैं-"साध्य साधनयोः साहचर्यमन्वयः (पदकृत्य) तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः। 'सन्तति गोत्र जनन कुलान्यभिजनान्वयौ, वंशोऽन्वयः सन्तानः (अ. को. २।७।१)" 'दशार्थान्वितम्' से श्रीरामद्वयमन्त्र के दश पदों-(१) श्री (२) मत् (३) रामचन्द्र (४) चरणौ (५) शरणं (६) प्रपद्ये (७) श्रीमते (८) रामचन्द्र (९) आय (१०) नमः।" के अर्थों का बोध होता है, जिसका प्रतिपादन आचार्य चरण ने अग्रिम श्लोक २।२६-३१ में इस प्रकार किया है-"सर्वाधीशेश्वरः स्याच्छ्रीर्हेतुरत्राभिधीयते। सीतापुरुषकारार्थो १श्रीत्यनेन पदेन तु॥ २मता पुरुषकारस्य नित्यसम्बन्ध उच्यते। ३रामचन्द्रेति पदतो वात्सल्यादि गुणस्य च॥ ४चरणावित्यनेनैव बात्सल्यादिकसीतयोः। विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्याश्रयस्य च॥ ५शरणेतिपदेनैवोपायस्तद्विग्रहो बुधैः। उपायाध्यवसायस्तु ६प्रपद्य इति वर्ण्यते॥ प्राप्यं मिथुनमेवेति ७श्रीमते पदतो मतम्। ८रामचन्द्रेति पदतः स्वामित्वं प्रतिपाद्यते॥ ९विभक्त्त्यायेति पदतः शेषवृत्तिर्महात्मभिः। विरोधिनो निरासस्तु १०नमः पदेन वर्ण्यते॥ २।२६-३१॥" इस प्रकार उक्त दश पदों एवं उनके कथित अर्थों में साध्य साधन भाव एवं नित्यसाहचर्य तथा अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार 'दशार्थान्वितम्' पद का तात्पर्य दश प्रकारक अर्थों से भी है-१ तात्पर्यार्थ, २ वाक्यार्थ, ३ प्रधानार्थ, ४ अनुसन्धानार्थ, ५ शब्दार्थ (अवयवार्थ और समुदायार्थ) ६ इष्टार्थ, ७ अभिधार्थ, ८ लक्षणार्थ, ९ व्यञ्जनार्थ, १० सङ्केतार्थ। इनमें प्रथम चार प्रकारक अर्थो (तात्पर्यार्थ. वाक्यार्थ, प्रधानार्थ, अनुसन्धानार्थ) का प्रतिपादन स्वयं आचार्य चरण ने ही श्लोक ३२-३४ में इस प्रकार किया है-"तात्पर्यार्थोस्य विज्ञेय आचार्य रुचिसंश्रयः। वाक्यार्थोमन्त्ररत्नस्य त्वथ निर्णीयते बुधैः॥ प्राप्य प्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्। प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैङ्कर्यस्य प्रधानता॥ स्वदोषाभ्यनुसंधानमनुसंध्यर्थ उच्यते। एवमेवानुसंध्येयं मोक्षकामैरहर्दिवम्। २।३२-३४॥" पाँचवा 'शब्दार्थ' के सम्बन्ध में भामह ने कहा है "शब्दार्थो सहितं काव्यम्।" "अनन्यलभ्य एव हि शब्दार्थः। छठे 'इष्टार्थ' के सम्बन्ध में दण्डी ने कहा है "इष्टार्थ व्यवछिन्नापदावली।" सप्तम से नवम 'अभिधोर्थ, लक्षणार्थ एवं व्यञ्जनार्थ' का निरूपण न्याय ग्रन्थों एवं काव्य शास्त्रों में बहुत ही विस्तार के साथ किया गया है। दशमे 'सङ्केतार्थ' का प्रयोग ज्योतिष शास्त्रों, गणित शास्त्रों एवं काव्यशास्त्रों में द्रष्टव्य है। यह श्रीरामद्वयमन्त्र इन दश प्रकार के अर्थो से अन्वित है ऐसा इसके 'दशार्थान्वितम्' पद से ज्ञात होता

है। इसी प्रकार 'दशार्थान्वितम्' पद से काव्य के दश अर्थ गुण [श्लेषः प्रसादः समता समाधि, माधुर्य ओजः पद सौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च, कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते 'भरत' श्लेषः प्रसादः श्लेष–समता समाधि माधुर्य–सौकुमार्य–उदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ॥वामन॥" "त एवार्थगुणाः–वामन।"] का बोध होता है। इसका थोड़ा संकेत यहाँ किया जाता है। श्रीरामद्वयमन्त्र में राम के साथ चन्द्रपद का प्रयोग हुआ है। यह चन्द्र सम्बन्धी अनेक अर्थों का ज्ञापक है–"सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढइ सोई ॥ प्रकटेउ जहँ रघुपति शशि चारु। विश्व सुखद खल कमल तुषारू ॥ भगति सुतीय कल करण विभूषण। जगहित हेतु बिमल विधू पूषण ॥ रामचरित राकेश कर, सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित. हित विशेष बड़ लाहु ॥ रामचन्द्र मुख चन्द्रछवि, लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सुखद, प्रेम प्रमोद न थोर ॥ हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकाशा। सूचत किरण मनोहर हासा ॥ भए मगन देखत मुख शोभा। जनु चकोर पूरण शशि लोभा ॥ सहज विराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा ॥ इन्हहि विलोकत अति अनुरागा। वरवश ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ॥ अधिक सनेह देह भए भोरी। सरद शशिहि जिमि चितव चकोरी ॥ 'आदि' इस प्रकार काव्यशास्त्र के दश अर्थ गुणों के परिप्रेक्ष्य में किये गये अर्थों का निरूपक यह आचार्योपदिष्ट दशार्थान्वितम् पद है।

युक्तम्=युक्तियुक्त नियमवद्ध–"युक्तमौपयिकं लभ्यं भजमानाभिनीतवत्।न्यायं च त्रिषु षट्। अ. को. २।८।२४–२५।

तत्=श्रीरामद्वयमन्त्र की विशेषता बोधक सर्वनाम।

त्रिपदैः=त्रिसंख्यावाचक है। पद का अर्थ चरण एवं वर्ण (अक्षर) समूह होता है। इस रामद्वय मन्त्र के पूर्व मन्त्र (खण्ड) में भी तीन पद–'१ श्रीमद्राम चन्द्रचरणौ, २ शरणं, ३ प्रपद्ये है एवं उत्तर मन्त्र (खण्ड) में भी तीन पद–'१ श्रीमते, २ रामचन्द्राय, ३ नमः' है सप्त पद से मैत्री [साप्तपदीनं सख्यम्–पा० ५।२।२२] होतीं है एवं त्रिपद से शरणागति। एक पग में दो चरण होते हैं। शरणागति के प्रथम पग का दो चरण 'अनुकूलस्य संकल्पः–प्रति कूलस्य वर्जनम्', द्वितीय पग का दो चरण 'रक्षिष्यतीति विश्वासः–गोप्तृत्ववरणं', तृतीय पग का दो चरण 'आत्म· निक्षेपकार्पण्य' होता है। इस प्रकार त्रिपद शरणागति का बोधक है। इसे ही वेद भगवान् कहते हैं–"इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये। छर्दिर्यच्छ मधवद्भ्यश्च मह्यं च गावया दिद्युमेभ्यः ॥सा० २६६॥ अर्थात् हे परमेश्वर तीनोलोक अपने कल्याण के लिये आपके शरण में है आप सभों के लिये प्रकाशमय स्वधाम (साकेत) प्रदान कीजिये।" परमेश्वर ने अपने तृतीय पद से बलि के शरीर को माप कर उसे अपना चरणाश्रित (शरणागत) किया था–"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूलमस्य पांसुले ॥ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन् ॥ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ऋ० १।१२।१७–२१॥ इसका भी स्मारक आचार्योक्त "त्रिपदैः" पद है। क्योंकि यह द्वयमन्त्र और ये वेद मन्त्र दोनों ही परात्पर ब्रह्म के चरणों की उपासना और चरणाश्रित होने के विषय के ही प्रतिपादक होने से इनमें एक विषयता है। "यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। य उ त्रिधातु पृथिवीमुतद्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० १।१५४।४॥" भी इसी तत्त्व के ज्ञापक हैं। यदि त्रिपदैः पद से यहाँ तीन प्रकारक वाक्य का ही ओग्रह किया जाये तो 'त्रिपदैः' के द्वारा–"चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि

तानि विदुर्ब्राह्मणाये मनीषिणः। गुहा त्रिणि निहितानेंगयंति पदानि तानि विदु ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रिणि निहितानेंगयंति तुरीयं बाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ऋ. १।१६४।४५॥" में प्रोक्त गुहास्थित पदों का सङ्केत है। एवं–'तिस्रो वाच ईरयति प्र ब्रह्निऋ तस्य धीति ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वा वशानाः ॥ सा० ५२५॥" का भी बोधक है।

सुमते=सुमते का अर्थ है–हे सुन्दर बुद्धिवाले। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से यह पद जिज्ञासु श्रीसुरसुरानन्दाचार्यजी के लिये प्रयुक्त हुआ है। तथापि अप्रत्यक्ष रूपसे इसका सङ्केत मन्त्र के अधिकारी के निरूपण में है। सुन्दर विचार (मति) वाले ही इस मन्त्र के अधिकारी हैं। दुष्ट विचारवाले अश्रद्धालु व्यक्ति नहीं "तमुस्तोतारः पूर्व्यं यथा विद् ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। अस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥ऋ० १।१५६।३॥"

पूर्वम्=यह पूर्वपद क्रम निरूपक है और श्रीरामद्वयमन्त्र के पूर्व वाक्य [श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये] के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह पूर्व पद आगे कहे जानेवाले उत्तर पद का पूर्वापर आनुपूर्वी सम्बन्ध बोधक परस्परापेक्ष है। उत्तर पद के साथ संगति, सामञ्जस, समन्वय एवं एक वाक्यताद्योतन के लिये यह पूर्वम् पद यहाँ व्यवहृत हुआ है। पुनः 'पूर्वं' पद 'उत्तरं' पद के साथ मिलकर द्वयमन्त्र का वाक्य विभाजन और द्विविभागत्व स्थापित करता है। न्यायशास्त्र में पूर्व और उत्तर पद क्रमनिर्देश के अतिरिक्त प्रश्नोत्तर निरूपक भी है।

शुभस्य=शुभ का अर्थ परमकल्याण या मोक्ष है–"श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्। अ. को. १।४।२५।" शुभस्य का अर्थ हुआ कल्याण (मोक्ष) का।

आस्पदम्=आस्पदम् का अर्थ है स्थान देने वाला–"प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम् अ. को. ३।३।९४।" शुभस्यास्पदम् का अर्थ हुआ मोक्ष पद देनेवाला।

वाक्यम्=अर्थ प्रतिपादन द्वारा अन्य पदों अथवा अन्य अर्थो के विषय में श्रोता की आकांक्षा को उत्पन्न करनेवाले और प्रतीयमान स्पष्टरूप से परस्पर अन्वययोग अर्थ के प्रतिपादक सन्निधियुक्त पदों का समूह वाक्य कहलाता है–"अर्थ प्रतिपादन द्वारा श्रोतुः पदान्तर विषयामर्थान्तर विषयां वा काङ्क्षा जनयतां प्रतीयमान परस्परान्वययोग्यार्थ प्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्। त. भा. ॥"

पञ्चदशाक्षरम्=पञ्चदशाक्षरम् का अर्थ पन्द्रह अक्षर–'१श्री २मत् ३रा ४म ५चं ६द्र ७च ८र ९णौ १०श ११र १२णं १३प्र १४प १५द्ये।" यदि 'वाक्यंपञ्चदशाक्षरम्' का विग्रह 'वाक्य पञ्च' एवं 'दशाक्षरम्' किया जाये तो वाक्यं पञ्च का अर्थ हुआ–'१ श्री शरणं प्रपद्ये, २ मत् शरणं प्रपद्ये, ३ राम शरणं प्रपद्ये, ४ चन्द्र शरणं प्रपद्ये, ५ चरणौ शरणं प्रपद्ये,।" एवं दशाक्षरम् का अर्थ इस वाक्य में प्रयुक्त पन्द्रह अक्षरों में दश अक्षर क्योंकि इसमें म, र, और ण दो दो बार आये हैं। अतः वास्तविक अक्षरों की संख्या दश ही है।

तद्=यह सर्वनाम श्रीरामद्वयमन्त्र के लिये प्रयुक्त है।

अनु=अनु का अर्थ पश्चात्, सादृश्य, लक्षण, तत्त्वाख्यान, भाग, वीप्सा. लम्बाई और वितर्क होता हैं। यहाँ अनुपद पश्चात् के साथ ही पूर्व वाक्य से सादृश्य के अर्थ में भी प्रयुक्त है।

दिग्वर्णात्मकम्="दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्चताः। अ. को. १।३।१ दिक् का साङ्केतिक अर्थ दश है। क्योंकि दिशायें दश प्रसिद्ध हैं। इस श्रीरामद्वयमन्त्र का उत्तर वाक्य

दश अक्षरों वाला [१श्री२म३ते ४रा५म ६चं७द्रा८य ९न १०मः] है। उक्त कोशवाचनानुसार यदि दिक् को ककुभ (ककुभोर्जुन) धवल का वाचक माना जाये तो दिग्वर्णात्मकम् का अर्थ होगा धवल वर्ण (अक्षर) अर्थात् भास्वर वर्ण वाला, यदि काष्ठा (काष्ठोत्कर्षे स्थितौ) का वाचक माना जाये तो अर्थ होगा उत्कर्ष वृद्धि एवं मर्यादा देनेवाला, यदि आशा का वाचक माना जाये तो अर्थ होगा आशा मनोरथ पूर्ण करनेवाला यदि हरित का वा क माना जायतो अर्थ होगा हरियाली (खुशी याली) लानेवाला या हरि (श्रीराम) को प्राप्त करानेवाला।

तु=यहाँ भी 'तु' पद पादपूरणके अतिरिक्त अर्थावधारणके लिये भी प्रयुक्त है। प्रथम वाक्यके लिये एक 'तु' पद पहले प्रयुक्त हो चुका है और यह तु पद उसीप्रकार दूसरे वाक्यके अर्थावधारणके लिये प्रयुक्त हुआ है।

उत्तरम्=उत्तर शब्दका अर्थ उत्तरदिशा, श्रेष्ठ, प्रतिवाक्य (जबाब), पश्चात् आदि होता है। यह उत्तर पद द्वितीय वाक्य-'श्रीमतेरामचन्द्रायनमः'के लिये प्रयुक्त हुआ है जो इसका सम्बन्ध पूर्ववाक्य-'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौशरणंप्रपद्ये'के साथ प्रतिपादित करता है तथा दोनों वाक्योंके आनुपूर्वीको निरूपित करता है। प्रथम वाक्य 'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौशरणंप्रपद्ये' संकल्प (संकल्पकर्ममानसम्) वाक्य है और द्वितीयवाक्य-'श्रीमतेरामचन्द्रायनमः' क्रियात्मक वाक्य। प्रथम वाक्य केवल मन अथवा मन और वचन का ही व्यापार है, जबकि द्वितीय वाक्य मन, वचन और शरीर-इन तीनोंका व्यापार। इसप्रकार पूर्व वाक्यमें संकल्प बतलाया गया है और उत्तर वाक्यमें उस संकल्पका कर्म। प्रथम सिद्धान्त है और दूसरा व्यवहार। अतः दोनोमें नित्य साहचर्य्य, अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध (व्याप्ति) परस्परापेक्षित्व, पूरकत्व एवं एकत्वज्ञापनके लिये यहाँ 'पूर्व' एवं 'उत्तर' पदोंका व्यवहार हुआ है। दोनों ही एक ही सूत्रमें ग्रथित हैं तथा दोनों हीमें एक तानता और एक वाक्यता है। दोनोंही एक ही मन्त्रके अङ्ग हैं। सामवेदके पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक भागोंके समान यहाँ पूर्व और उत्तर पदका प्रयोग है। जिसप्रकार सामवेदके पूर्वार्चिकसिधान्तभाग (दैवतकाण्ड) अर्थात् ज्ञानात्मक तथा उत्तरार्चिक क्रियाभाग (सूक्त) अर्थात् उपासनात्मक या कर्मोपयोग है, उसी प्रकार श्रीरामद्वयमन्त्रको भी पूर्वभाग संकल्प (ज्ञानात्मक) तथा उत्तरभाग क्रिया (कर्म और उपसना) परक हैं। जिसप्रकार पूर्वमीमांसामें ज्ञानका प्रतिपादन है। उसीप्रकार पूर्ववाक्यमें ज्ञान एवं उत्तर वाक्यमें कर्म (उपासना कर्म) का निरूपण है। पूर्व और उत्तर पदोंसे प्रश्न और उत्तर उत्तर अर्थका आग्रह करने पर पूर्वसंकल्पवाक्य मनोद्भूतप्रश्नरूप एवं उत्तर क्रियावाक्य उसका उत्तररूम सिद्ध है। यदि पूर्व और पदोंसे दिशा अर्थका भी आग्रह किया जाये तो पूर्व और उत्तर दिशाओंकी सन्धिस्थानका नाम ईशान (दिशा) है जो श्रीरामद्वय मन्त्रकेपूर्व एवं उत्तरवाक्योंकी सन्धि (योगसे "ईशान मत्स्यजगतः सा० ६८०" का प्रतिपादक होनेसे वह भी सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार श्रीरामद्वयमन्त्र अनेक रहस्योंका समुद्र है। इसका सतत मनन करते रहना चाहिए। इस लघु लेखमें इस मन्त्रपर प्रकाश डालना 'खोजहि भानु दीप कर लिन्हे, के समान हास्यास्पद है अस्तु 'थोडेहिमें जानिअहि सयाने' कहकर विश्राम लेता हूँ।

श्रीरामः शरणं मम।

卐 द्वयमन्त्र व्याख्या 卐

[ले० वैदेहीकान्त शरण]

मन्त्र–श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः ॥

व्याख्या–श्री "श्रीर्वेशरचनाशोभाभारतीसरलद्रुमे । लक्ष्म्यांत्रिवर्गसम्पत्ति विधोपकरणेषु च ।
विभूतौ च मतौ च स्त्री स्रः स्त्रियांनिर्झ्ज रेस्रवे ॥मे०॥"
"लक्ष्मीःपद्मालयापद्माकसला श्रीर्हरिप्रिया ॥अ. को.॥
श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च (शु॰ य. ३१)"
श्रीरितिलक्ष्मीरितिलक्ष्यमाणाविज्ञायते ॥ सितोपनिषद् ॥
"इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयंयद्भावसाधनम् । तद्ब्रह्मसत्तासामान्यं सीतातत्त्वमुपास्महे ॥
"श्रीभूमिनीलात्मिका भद्ररूपिणी ।" सीतोपनिषद् ।
"अचलानिश्चलालक्ष्मी श्रीपद्मानगशायिनी ॥ श्रीजानकीसहस्रनाम। ।

आचार्य चरण कहते हैं–"सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिर्हेतुरत्राभिधीयते ।
सीतापुषकारार्था श्रीत्यनेनपदेनतु ॥" (२।२६)

अर्थात् श्रीपदसे सर्वाधीश्वर श्रीरामके प्राप्तिका हेतु (कारण) पुरुषकार (अनुशंसा=सिफारिश करनेवाली) सीताजीका निरूपण किया गया है। कहा जाता है कि–"विना पुरुष कारेण दैवं न सिद्ध्यति"–बिना पुरुषकारके देवता सहायता नहीं करते हैं। अतः श्रीरामजीकी प्राप्तिके लिये तदनुकूल साधन अनिवार्य है। साधनमेंतुल्ययोगिता होनी चाहिए–समः समेन लभ्यते। अतः श्रीरामजीकी प्राप्तिका साधन उनकी पराशक्तिरूपा श्रीपदवाच्या श्रीसीताजीकी अनिवार्यता है। अतः इसी प्रयोजनके लिये श्रीपद की योजना द्वयमन्त्र अपरपर्याप शरणागति मन्त्रमें कीगयी है एवं सर्वप्रथम कीगयी है। यह पूर्वत्व "अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्तीत्वं कारणत्वम्" का ज्ञापक एवं श्रीरामप्राप्ति कार्यका कारणत्वका प्रतिपादक है। रामार्चनपद्धतिमें इसीलिये आचार्यचरणने प्रथम श्रीसीताश्रीकी शरणागतिका ही निरूपण किया है–श्रीभगवद्रामचन्द्राभिमतानुरुप स्वरूप विभवैश्वर्य शीलाद्यनवधिकाशयासंख्येय कल्याण गुणगणां पद्मवनालयां पद्माननां पद्मदलायताक्षीं नित्यानपायिनीं भगवतीं निरवद्यां श्रीसीतां श्रीरामदिव्यमहिषीमखिलजगन्मातरमशरण शरण्यामनन्यशरणंशरणमहंप्रपद्ये ॥"

मत्=यत् मतुप् प्रत्यय श्रीसीताजीका श्रीरामजीके साथ नित्य योग एवं सम्बन्ध ज्ञापनके लियेहै–
"भूय निन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥"

आचार्य चरण कहते हैं–"मतापुरुषकारस्य नित्यसम्बन्ध उच्यते" अर्थात् 'मत्' पदसे पुरुषकार (श्रीसीताजी)का श्रीरामजीके साथ नित्य सम्बन्ध त्रिकालाबाधित अविच्छेद्य सम्बन्धका प्रतिपादक है। सिफारिश (अनुशंसा) का अधिकार किसी सम्बन्धसे ही होता है। श्रीसीताजीका श्रीरामजीके साथ नित्य सम्बन्ध है। इस कारणसे उनकी बातोंकी मान्यता अबाध (नित्य) है।

रामचन्द्र=आचार्यचरणनेकहा है–"रामचन्द्रेतिपदतो वात्सल्यादि गुणस्य च" अर्थात् रामचन्द्र पदसे श्रीरामजीके साथ वात्सल्यादि गुणका नित्य सम्बन्ध कहा गया है। पाल्यपालकभावको वत्सल कहते हैं–"पाल्यपालकभावेन सावत्सलरतिर्भवेत् ।" 'आदि' पदसे भगवान्के असंख्य दिव्यगुणोंका ग्रहण है। यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्णज्ञापनके लिये केवल वात्सल्यका ही स्पष्ट कथन हैं एवं शेषको 'आदि' पदसे अस्पष्ट इङ्गितमात्र करदिया गया है।

चरणौ=भगान्के सभी अङ्गोंकी महिमा अद्वितीय है। परन्तु दीनों और शरणागतोंके लिये सर्वोपरि महिमा चरणोंकी ही है। कहा है-"भजु मन रामचरण सुखदाई। जिन चरणोंकी चरण-पादुका भरत रहे लौ लाई॥ जिन चरणन केवट धोई लिन्हा तब प्रभुनाव चढाई॥ जिन चरणनसे निकसी सुरसरी शंकर जटा समाई ॥आदि॥" सूरदासजीने भी कहा है-"चरण कमल बन्दौं हरिराई। जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधेको सब कुछ दरसाई। बहिरौ सुनै मूक पुनि बोले रंक चलै शिर छत्र धराई ॥ सूरदास स्वामी करुणामय बारबार वन्दौ हरिराई ॥" अखिल लोगोंका उद्धारक भगवान् के चरणों का जल (चरणामृत) ही है। वेद भगवान् भी उनके चरणों के दर्शन की कामना करते हैं-तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋ. १।२२" अतः चरणों की ही शरण में जाने की कांक्षा से 'चरणौ शरणं प्रपद्ये" कहा गया है। आचार्य चरण ने इसीलिये आगे "नमो नमः कारुणिकाय तुभ्यं पादाब्ज युग्मे तव भक्तिरस्तु।" मनो मिलिन्दस्तव पाद पंकजे" से चरणों की स्तुति का उपदेश दिया है। इस शरणागतिमन्त्र का मुख्य आश्रय चरण ही है। आचार्य चरण कहते हैं-"चरणौवित्यनेनैव वात्सल्यादिकसीतयोः। विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्याश्रयस्य च ॥" अर्थात् चरणौ पद से वात्सल्यादिदिव्यगुण, श्रीसीताजी, तथा शरणागति का श्रीरामजी के साथ विलक्षण सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

शरणं=शरणं गृहरक्षित्रोः अ. को. ३।३।५३' "शरणं गृह रक्षित्रो वध रक्षणयोरपि ।मे० ।"

रक्षा के स्थान एवं रक्षा के आश्रय को शरण कहते है। गीता में भगवान् ने शरण ग्रहण करने का उपदेश दिया है और भगवान् को ही शरण कहा गया है—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥९।१८॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८।६१
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८।६९
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८।१४
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ।।१८।६६

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी शरणागति का ही उपदेश है-

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥" इति

इसका तात्पर्य आचार्य चरणने इस प्रकार वर्णन किया है "अहं तं ह्यात्मबुद्धिप्रकाशं स्वविषयक बुद्धिप्रकाशकं देवं ब्रह्मेशानादिसर्वपूज्यं भगवन्तं श्रीरामंशरणंप्रपद्ये "सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति चयाचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम" इति भगवच्छ्रीरामोक्त्याभगवच्छ्रीरामप्रपत्तेरेवसर्वाभयनिदानत्वात्सर्वेश्वरश्रीराममेवशरणमहंप्रपद्ये। उक्ता च सकृद्रामप्रपत्त्यैवपरधामावाप्तिर्जगद्गुरुभिः श्रीचिदानन्दाचार्यैर्न्यासकलानिधौ "नावाप्यते परं धामतपोयोगसमाधिभिः। सकृद्रामप्रपत्त्यैव प्राणिभिः प्राप्यते हि तत्" इति ततो भगवच्छ्रीरामप्रपत्तिरेवमोक्षार्थं विधेया मुमुक्षुभिरितिभावः"—(आनन्दभाष्यम्)

वेदों में भी शरणागति का उपदेश है—

"पुरुत्वा दाशिर्वा वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा। तोदस्येव शरण आ महस्य ॥
ऋ० १।१५०।१=सा० ९७॥"

इस प्रकार सर्वत्र शरण को ही उपाय रूप कहा गया है। आचार्य चरण कहते हैं-"शरणेति

पदेनैवोपायस्त्वद्विग्रहो बुधैः" अर्थात् शरण पद से उस शरण को विशेषरूपसे ग्रहण को विद्वज्जन ने उपाय कहा है। 'बुधैः' पद से इसकी प्रामाणिकता का निरूपण ही नहीं अपितु श्रेष्ठत्व का भी प्रतिपादन है।

प्रपद्ये=प्र उपसर्ग पूर्वक पद गतौ धातु से निष्पन्न प्रपद्ये शब्द का अर्थ प्रकर्ष रूप से शरण में जाता हूँ एवं शरण की प्राप्ति करता हूँ-इस संकल्प वा निश्चय है। आचार्य चरण कहते हैं "उपायाध्यवसायस्तु प्रपद्य इति वर्ण्यते", अर्थात् प्रपद्ये पद से उस उपायरूप शरणागति की प्राप्ति के अनुकूल व्यापार अध्यवसाय (उद्यम वा प्रयत्न) का वर्णन है।

श्रीमते=श्री एवं मत् की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। उक्त प्रकार श्री(सीता)जी वाले रामजी के लिये यह नमस्कार (समर्पण) होने से यहाँ श्रीमते कहा गया है। आचार्य चरण कहते हैं-"प्राप्यं मिथुनमेवेति श्रीमते पदतो मतम्" अर्थात् श्री मते पद से श्रीसीताजी एवं श्रीरामजी दोनों प्राप्य हैं कहा गया है।

रामचन्द्र=श्रीरामजी जगत् के स्वामी हैं। आचार्य चरण ने आगे कहा है-"जगत्पते श्रीश जगन्निवास प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र (५।१५)" अतः इस शरणागति मन्त्र (द्वयमन्त्र) के प्रकरण में कहा है-"रामचन्द्रेति पदतः स्वामित्वं प्रतिपाद्यते" अर्थात्-रामचन्द्र पद से उनके स्वामित्व का प्रतिपादन है।

आय=जिस पुरुष के उद्देश्य से कोई कार्य किया जाता है अथवा क्रिया के द्वारा जो अभिप्रेत हो उसमें यह चतुर्थी विभक्ति होती है-'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्-पा० १।४।३२", क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् (वा०)" यहाँ नमः क्रिया द्वारा राम को ही सन्तुष्ट करना है। अतः उसमें चतुर्थी विभक्ति 'आय' का प्रयोग हुआ है। आचार्य चरण कहते हैं-"विभक्त्याऽऽयेति पदतः शेष वृत्तिर्महात्मभिः।" अर्थात् महात्मालोग आयविभक्ति से शेषवृति (सेवावृत्ति) के आचरण का वर्णण करते हैं।

नमः=नमः का अर्थ नमस्कार करना है-"नमो नतौ अ.को. ३।४।१८।" आचार्य ने आगे नमस्कार की विधि वतलायी है-

"उरः शिरोदृष्टिमनोवचः पदद्वयप्राजत्करयुग्मज़ानुभिः।
अङ्गैः क्षितौ तं प्रणमेदथाष्टभिदीर्घं तथैतैः कृतधीश्च दण्डवत्॥" (५।१७) नमः पद का अनेक अर्थ आचार्य चरण ने षडक्षरमन्त्र के प्रकरण में 'पदेन तेनात्र' श्लो० २।१७' से 'उपायस्य' श्लो० २।२१' में बतलाया है, जिसमें अन्त में मकार का अर्थ-'स खण्डेन मकारेण षष्ठ्यन्तेन विरोधिनः" अर्थात् विरोधी का स्वरूप कहा है। उसी अर्थ का यहाँ ग्रहण करते हुये आचार्य चरण कहते है-"विरोधिनो निरासस्तु नमः पदेन वर्ण्यते "अर्थात् नमः पद से प्राप्ति विरोधियों का निरास का प्रतिपोदन है।

इस द्वय मन्त्र का तात्पर्यार्थ आचार्य की रुचि के अनुकूल व्यापार करना है, वाक्यार्थ प्राप्य प्रापक के सम्बन्धी स्वरूप का निरूपण है, प्रधानार्थ श्रीरामजी एवं श्रीसीताजी के कैङ्कर्य की प्रधानता है एवं अनुसन्धानार्थ मोक्ष की इच्छावाले को अपने दोषों का अनुसन्धान करना है।

उक्त द्वय मन्त्र का निरूपण वेदों में इस प्रकार है—

"वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतावृधम्। इन्द्रात् परितन्वं ममे॥ ऋ० ८।७६।१२=अथर्व० २०।४२।१

मैं आठ पद और नव प्रकार की वाणी को परमेश्वर से पूर्णतया प्राप्त करता हूँ।

इस द्वय मन्त्र में आठ पद हैं-१ श्रीमत् २ रामचन्द्र ३ चरणौ, ४ शरणं, ५ प्रपद्ये, ६ श्रीमते, ७ रामचन्द्राय, ८ नमः। एवं इसमें नव प्रकार हैं इसके नव रस वा नव प्रकार अर्थ। यह नव शब्द संख्याबोधक एवं नवीनता बोधक (क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः) भी है। इससे नव (नित्यनवीन भाव एवं अर्थ तथा नव संख्या प्रकारक अर्थ) निर्गत होता है। उक्त आठ पदों में से प्रथमपद 'श्रीमत्' के श्रीं और मत् का विश्लेषण या विस्तारकर देने से नव प्रकार का अर्थ निर्गत होता है। अतः 'नवस्रक्तिमृतावृहम्' कहा गया है।

यहाँ शङ्का संशय वा आक्षेप हो सकता है कि आचार्य चरण ने तब "षट्पदं, दशार्थान्विनम्" क्यों कहा ? उक्त वेद मन्त्रोपदेश से आचार्य चरण के कथन में विरोध होता है। परन्तु यह शंका भ्रान्त है।

जिस प्रकार रसों की संख्या नव प्रसिद्ध है—

"शृङ्गारहास्यकरुण रौद्रवीर भयानकाः। विभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसा शान्तस्तथा मतः॥" सा० ६।३।१८

तथापि दशम रस वात्सल माना गया है—

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। सा. द. ३।२५१।"

इतना ही नहीं श्रीरूप गोस्वामीजी ने मधुर को अलग रस माना है। फिर भी इससे नव रस की प्रसिद्धि से कोई विरोध नहीं है। कणाद ने छः पदार्थ कहा है और परवर्ती शिवादित्य आदि सप्त पदार्थ कहते हैं और कणाद से अविरोध बतलाते हैं।

इसी प्रकार आचार्य वचन का भी उक्त वेद वचन से अविरोध ही है। इसी प्रकार आचार्य चरण द्वारा आगे कहे जाने वाली 'आत्मार्पणं सा नवधेति गीयते-श्लो० ४।१४" के आत्मार्पण (शरणागति) रूप नवम रूपवाली भक्ति के अन्वय इस द्वय मन्त्र में होने से इसका अन्वय उक्त वेदमन्त्र 'नवस्रक्तिमृतावृधम्" के साथ है।

यदि उक्त 'वाचमष्टपदीमहं' का तात्पर्य 'अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।' यह माना जाये तो भी इसका तात्पर्य शरणागति ही इस प्रकार बनेगा—

"रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे, रामेण निहिता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः।
रामात् नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोस्म्यहम्, रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम मामुद्धर॥"

अथवा-श्रीरामः शरणं समस्तजगतां, रामं विना का गती, रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः।
रामात्त्रस्यतिकालभीमभुजगो, रामस्य सर्वंवशे, रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे रामत्वमेवाश्रयः॥स्क०पु०

वेदों में स्पष्ट शब्दों में द्वयमन्त्र की चर्चा है—

"यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुररातीवामर्चयति द्वयेन।
मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सो अस्मा अनु मृक्षीष्ट यन्वं दुरुक्तैः॥
उत वा यः सहस्य प्रविद्वान्मर्तो मर्तं मर्चयति द्वयेन।
अतः पाहिस्तवमान स्तुवन्तमग्ने माकिर्नो दुरितायधायीः॥ऋ० १।१४७।४-५॥"